श्री अश्विनी कुमार दत्त ।

हिन्दी-पुस्तक-माला पुष्प—२

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

श्रीमद्भगवद्गीता

लेखक—

भक्तियोग, प्रेम आदिके रचयिता प्रसिद्ध कर्म्मयोगी

श्रीअश्विनीकुमार दत्त

अनुवादक—

पं० छबिनाथ पाण्डेय बी० ए०, एल एल० बी०

प्रकाशक:—

हिन्दी पुस्तक भवन

नं० १८१, हरिसन रोड, कलकत्ता।

प्रथमवार २०००] अधिक ज्येष्ठ १९८० [मूल्य ॥।)

निवेदन ।

—०—

आज इस मालाका दूसरा पुष्प पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जाता है। आशा है कि इससे पाठकोंकी ज्ञान-पिपासा-की तृप्ति कुछ न कुछ अवश्य होगी। ऐसा लिखनेका साहस इसीलिये होता है कि इसके लेखक बरीसालके प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत अश्विनीकुमार दत्त महोदय हैं। आप केवल लेखक ही लेखक नहीं हैं किन्तु आपने बंगालके प्रसिद्ध स्वदेशी आन्दोलनके समय कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होकर एक सच्चे कर्मयोगीकी तरह मातृभूमिके लिये कष्ट सहे थे। आपने इस छोटीसी पुस्तकमें जो कुछ लिखा है उसमें स्वयं अनुभव की हुई बातोंका कम समा-वेश नहीं है। आपकी भाषा कैसी सरल और मधुर होती है इसे वे लोग भलीप्रकार जानते हैं जिन्होंने इनका भक्तियोग और प्रेम पढ़ा है। आपकी लेखनीमें एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि कितना ही कठिन विषय क्यों न हो आप उसे उदाहरणों द्वारा इतना सहज कर देते हैं कि साधारणसे साधारण मनुष्य भी उसे सुगमतासे समझ सकता है। किसी किसी स्थानपर तो आप उदाहरणोंकी ऐसी छटा बांध देते हैं कि पढ़नेवालेको उपन्यासकासा आनन्द मिलता है।

इसके अनुवादक महोदयका विशेष परिचय करानेकी आव-श्यकता नहीं है। आप कलकत्तेसे निकलनेवाले साहित्य पत्रके

सम्पादक रह चुके हैं और आपने कई एक पुस्तकें लिखकर व अनुवाद करके हिन्दीके साहित्य भण्डारकी वृद्धि की है। हाल हीमें आपने महात्माजीके यंग इण्डियाका करीब २५००-पृष्ठमें अनुवाद किया है।

अन्तमें इस बातके लिये क्षमा प्रार्थना करनी भी उचित प्रतीत होती है कि पुस्तककी छपाई सफाई वैसी अच्छी न हो सकी जैसी होनी चाहिये थी। यद्यपि इस समय प्रेस हमारा निजका हो गया है तथापि उसका कार्य अभीतक सुचारु रूपसे नहीं चलता था। प्रेसके काममें जो प्रारम्भिक कठिनाइयां होती हैं वे किसीसे अविदित नहीं हैं। आशा है मालाकी अन्य पुस्तकें यथासम्भव सुन्दर रूपमें निकलेंगी।

मालाका तीसरा पुष्प 'भारतमित्र' सम्पादक पं० लक्ष्मण-नारायणजी गर्दे कृत **"सरल गीता"** इस समय प्रेसमें है। आशा है इसी मासमें प्रकाशित हो पाठकोंके अध्यात्मज्ञानकी वृद्धिमें सहायक बनेगी।

विनीत—

प्रकाशक

प्रस्तावना ।

बाबू अश्विनीकुमार दत्तका नाम भारतवर्षमें सर्वत्र प्रसिद्ध है। बंगविच्छेदके भारतव्यापी आन्दोलनका केन्द्र स्वभावतः बंगदेश ही था। पर इस बंगदेशमें भी आन्दोलनका मुख्य केन्द्र पूर्वबंगालका बारीसाल नगर था जिसके नेता इस ग्रन्थके लेखक बाबू अश्विनीकुमार दत्त थे। बाबू अश्विनीकुमार दत्तके ही कर्मयोगका यह फल है कि बंगदेशके सभी आन्दोलनोंमें बारीसाल सदा ही सबके आगे रहता है। जिस प्रकार पञ्जाब-की सहायतामें बारीसालने ही बंगालकी लाज रखी उसी प्रकार गया कांग्रेसके कार्यक्रमकी सिद्धिमें बारीसालने बंगालकी तैयारीका प्रमाण उपस्थित किया है। इसका कारण यही है कि बारीसालका सार्वजनिक जीवन बाबू अश्विनीकुमार दत्त जैसे कर्मयोगीके कर्मयोगकी भित्तिपर स्थित है। यह सबको विदित है ही, बाबू अश्विनीकुमारने जो देशसेवा की उसके लिये उन्हें अन्य आठ साथियोंके साथ देशनिर्वासनका उपहार प्राप्त हुआ था। ये बातें उनके सार्वजनिक जीवनकी ही प्रभा हैं। उनका व्यक्तिगत जीवन कितना पवित्र है, यह वे ही लोग पूर्णतासे बतला सकते हैं जिन्हें उनके साथ रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। हमें यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है। पर उनके "भक्ति-

योग" ग्रन्थकी हमने बड़ी प्रशंसा सुनी है और उनका यह "कर्म-योग" तो हमारे सामने है। जो पुरुष ऐसा मनोहर और दिव्य ग्रन्थ लिख सकता है, वह पूजनीय है इसमें सन्देह नहीं।

ऐसे सर्वमान्य पुरुषके ऐसे उत्तम ग्रन्थके सम्बन्धमें यही कहना पर्याप्त है कि इस ग्रन्थद्वारा एक कर्मयोगीने संसारको एक बहुत उपकारी वस्तु प्रदान की है। जो लोग इसे पढ़ेंगे, उनका अवश्य उपकार होगा। कर्मयोग वेदान्तका विषय है। इस विषयका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता है। पर भगवद्-गीतामें कर्मयोगका जो विवेचन है वह सिद्धान्त-प्रतिपादक श्लोकोंके रूपमें है। ये श्लोक कण्ठ करने और सदा मनन करने योग्य हैं। इन श्लोकोंमें अद्भुत मन्त्रशक्ति है। पर गीताके कर्मयोगको समझकर समझाना बड़ा ही कठिन काम है। इसके लिये लोकमान्य गीतारहस्यकारको लगभग १००० पृष्ठका बृहत् ग्रन्थ लिखना पड़ा है और इसके पूर्व कितने ही आचार्यों और असंख्य टीकाकारोंने अनेक प्रकारकी रचनाएं की हैं। पर इन सब ग्रन्थोंको पढ़ने और मनन करनेका अवसर किसको है? इतना अधिकार और पाण्डित्य भी सबको नहीं है। इसलिये भग-वानने गीतामें अथवा वशिष्ठजीने योगवाशिष्ठमें जिस कर्मयोगका उपदेश दिया है उसे हम आप साधारण बुद्धिके लोग जानना चाहें तो कैसे जान सकते हैं? बाबू अश्विनीकुमार दत्तने कर्म-योगपर जो यह ग्रन्थ लिखा है वह हमारे जैसे प्राकृत जनोंके लिये ही लिखा है और दृष्टान्त आदि देकर ऐसे अच्छे ढंगसे लिखा है

कि मनोरञ्जनके साथ ही साथ कर्मयोग क्या है, यह समझमें आ जाता है। यह ग्रन्थ पढ़कर पाठकका "कर्मयोग" के संसार-में प्रवेश हो जाता है और उसको पारमार्थिक सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। ऐसे ग्रन्थके विषयमें अब यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि इसे सब लोग श्रद्धाके साथ पढ़ें।

हिन्दी पुस्तक भवनके स्वामिद्वयने ऐसी पुस्तकका अनुवाद कराके प्रकाशित किया और पं० छबिनाथ पांडेयने इसका सरस सुबोध अनुवाद किया है इसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं।

लक्ष्मणनारायण गर्दे

विषय-सूची ।

कर्मयोग

(१)

आदर्श कर्मभूमि

यह संसार कर्मक्षेत्र है। भृगु मुनिने भरद्वाज ऋषिसे इस पृथ्वीको ओर लक्ष्य करके कहा था—"कर्मभूमिरियम्," अर्थात् यह कर्मक्षेत्र है। विश्व कर्ममय है। कर्म ही इस विश्वरचनाका आधार है। यह स्पर्श, शब्द और ज्ञानहीन महद्विस्तीर्ण अन्धकारमय और इस सुनियन्त्रित विश्वमें कर्मकी ही माया फैल रही है। यह अखिल सृष्टि कर्मके ही सहारे खड़ी है। और तो और स्वयं भगवान कर्मशील हैं। सृजन, पालन और संहार उनका दैनिक कर्म है। प्रजापति ब्रह्मा इस ब्रह्माण्डरूपी गृहस्थीके गृहस्वामी हैं। इस ब्रह्माण्डमें स्थावर और जङ्गमरूपी जितनी वस्तुयें हैं सब पर उनका अनन्य प्रभुत्व है। जिस वस्तु या जीवकी जिस स्थान और जिस काममें वे आवश्यकता देखते हैं उसे उसी स्थानमें और उसी काममें नियुक्त करते हैं। इस प्रसंगको लेकर भगवान श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है:—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नाना वाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्माणि।

अर्थात् हे अर्जुन! हमारे लिये 'करणीय' ऐसी कोई वस्तु

नहीं है। इन तीनों लोकोंमें मेरे लिये न मिलनेवाला या मिलनेके लिये प्रयास करनेवाला ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है। तोभी मैं सदा काममें लगा ही रहता हूं अर्थात् कुछ न कुछ करता ही रहता हूं, कभी उदासीन और बेकार नहीं बैठा रहता।

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र, कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वाः
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव तन्द्रितो शश्वदुदेति सूर्य्यः।

और देखिये, स्वर्गलोकमें देवतागण क्यों देदीप्यमान होते हैं, वायु क्यों रात दिन डोला करता है, भगवान मरीचिभास्कर सूर्य कालप्रमाणको दिन रात रूपी दो भागोंमें बांट कर क्यों सदा उदय हुए रहते हैं। कारण कि यह सब कर्मकी गति है।

इसी तरह कर्मके ही कारण चन्द्र भगवान क्षण भरके लिये भी आराम नहीं करते और दिन रात नक्षत्रोंको प्रकाशित किया करते हैं और अग्नि संसार-यात्राको सफलता पूर्वक चलानेके लिये दिन रात भभकती रहती है।

भगवती वसुन्धरा कर्तव्य पालन करनेके लिये ही विश्वके इस महत् बोझको ढोती हैं। नदियां प्रत्येक जीवकी पिपासा जनित उष्णताको शान्त करनेके लिये अनवरत रूपसे बहा करती हैं।

इस प्रकार गवेषणा पूर्ण विचार करनेसे प्रतीत होगा कि इस विश्वमें जितनी वस्तुयें हैं सभी कर्त्तव्य कर्मके अधीन हैं और उसको पूरा करनेके लिये अनवरत रूपसे चलायमान रहती हैं। कर्मनिष्ठताको देखकर महाकवि कार्लाईलने कहा था:—

"What is this Universe but an infinite Conjugation of the verb 'to do.' यह संसार क्या है? केवल 'कृ' धातुका अनन्त रूप अर्थात् यह विश्व केवल कर्मक्षेत्र है। यहां जिधर देखिये उधरसे कुछ न कुछ करते रहनेकी ही आवाज आती रहती है।

कर्मयोगके अतिरिक्त यहां कोई अन्य काम नहीं है। जो जीव इससे विरत रहना चाहते हैं, उनके लिये यहां स्थान नहीं है। गीतामें भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था :—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजै र्गुणैः ।

शरीर यात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ।

कर्मयोगमें निष्ठ न रहकर अर्थात् कर्म न करके कोई क्षण भरके लिये भी नहीं रह सकता। प्रत्येक मनुष्यका प्रकृति-जनित स्वभाव है कि वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य ही करता रहेगा और तो और, बेकार बैठे रहनेसे तो जीवन यापन भी कठिन हो जायगा। कहनेका अभिप्राय यह कि प्रति दिन शरीरके पालन पोषणके लिये तुम्हें मुट्ठी भर अन्न संग्रहीत करनेके लिये भी कर्म करनेकी आवश्यकता पड़ती है। यदि इस जीवनका कोई और प्रयोजन न भी मानें तो केवलमात्र जीवित रहनेके लिये ही कर्म करना आवश्यक है।

इस प्रकार अनुसन्धान करनेसे स्पष्ट विदित हो जाता है कि

सभी जीव कर्मक्षेत्रके कीड़ा हैं; कोई अपने शरीरके भरण पोषण-के लिये कर्म करता है और कोई संसारके कल्याणके लिये। सोनेसे लेकर स्नान भोजनादि जितने करणीय कर्म हैं सभी तो कर्मके अङ्ग हैं।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अपने लिये केवल-मात्र हमीं काम करते हैं। सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण भी किसी न किसी रूपसे हमारी सेवा करनेके निमित्त कर्म करते हैं। अनेक कोटि जीव हमारे आरामके लिये निरन्तर काम करते हैं। जिस वस्तुसे हम अपना मकान बनाते हैं, जिसमें अपने कुटुम्बको लेकर हम आनन्दसे समय काटते हैं, जिसमें हमने अपने आरामके सभी साधनोंको संग्रहीत करके सुरक्षित रखा है, उसका अस्तित्व किस प्रकार हुआ। जरा सुदूरमें दृष्टिपात कीजिये और सोचिये तो कि उसके निर्माण करनेमें कितने व्यक्तियोंको मानसिक और शारीरिक शक्ति व्यय करना पड़ा होगा। जिस घरमें रहकर हम सुख तथा शान्तिसे अपना दिन काटते हैं, वर्षा, धूप तथा जाड़ासे अपने शरीरकी रक्षा करते हैं उस घरके निर्माणमें जिन साधनों और उपकरणोंका प्रयोग हुआ है उनके उत्पन्न करनेमें कितने लोगोंकी मानसिक शक्तिका व्यय हुआ होगा, कितनोंको अनवरत मानसिक परिश्रम करके इन साधनोंको तैयार करना पड़ा होगा, इसे स्मरण करके विस्मित होजाना पड़ता है। जिस अन्नके द्वारा अपने पेटकी धधकती ज्वालाको हम शान्त करते हैं, जिन वस्त्रोंके द्वारा हम अपनी लज्जाका निवारण करते हैं,

इन सब वस्तुओंके पैदा करनेमें कितने लोगोंको वर्षा, शीत, और आतपका सामना करना पड़ा होगा, यह स्मरण कर अवाक् रह जानेमें आता है। एक समय वह था जब मैं अबोध बालक था, एक तुच्छ मच्छरको भी अपने वक्षःस्थलपरसे उड़ा भगानेकी क्षमता मुझमें नहीं थी। उस अवस्थासे पालित पोषित और परिवर्धित कर जिसने मुझे इस अवस्थामें पहुंचाया, उसका स्मरण करते ही हृदय कृतज्ञतासे भर जाता है। इस प्रकार पर्यवेक्षण करनेपर हम देखते हैं कि अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमताके लिये हम हजारों और लाखों व्यक्तियोंके ऋणी हैं, हजारों और लाखोंके कठिन परिश्रमका ही फल है कि आज हममें इस प्रकारको योग्यता और निष्पत्तिका जन्म हुआ है, इतनाही नहीं। हमारे शरीरमें जिस जीवन तत्वकी प्रतिष्ठा हुई है, उसकी रक्षा भी जिस (भविष्यत) होने वाली सन्ततिके द्वारा होगी, उसके प्रति भी हम ऋणी हैं। यहां तक तो हमने केवल मनुष्यके ऋणका वर्णन किया है पर हम लोग केवल मनुष्यके ही ऋणी नहीं हैं। जिन उपकरणों और साधनों द्वारा हमारा जीवन यापन होता है, हमारी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है उन साधनोंको उत्पन्न करनेमें कितने पशु अपने रक्तको पानी बनाकर काम करते हैं, क्या हमने क्षण भरके लिये भी इस बातका अनुमान किया है? उद्भिज जगत हमारे आराम, सुख और रक्षाके लिये कितने प्रकारके साधनोंको लेकर उपस्थित हुआ है, क्या हम लोग इसका अनुमान कर सकते हैं?

प्रपञ्च करावा नेमक, वाहावा परमार्थ विवेक,
जेने कहितां उभये लोके सन्तुष्ट होतीं।

एक तरफ तो स्थिरतापूर्वक अर्थात् विना किसी तरहकी चिन्ता और घबराहटके संसारके प्रपञ्चोंको करता जाय और दूसरी ओर परमार्थका ज्ञान भी प्राप्त करता जाय। इस प्रकार इहलोक और परलोक दोनों बन जायगा।

विना संसारकी प्रपञ्च रूपी इस यात्रामें प्रवृत्त हुए कोई मनुष्य मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि भावोंको अपने वशमें नहीं कर सकता। यदि संसारमें किसीके साथ सम्बन्ध नहीं है, तो फिर मैत्री किससे? किसको आनन्दसे प्रसन्न देख कर प्रसन्न होंगे, और किसकी बढ़ती देखकर मनमें ईर्ष्या, द्वेषादिके भाव जागृत होंगे और किसकी उपेक्षा करेंगे। इस संसारमें रह कर कर्त्तव्य कर्म किये विना न तो मनुष्यको आत्माका ज्ञान प्राप्त करनेका कोई सहायक मार्ग है, न तो नित्य तथा अनित्य वस्तुओंके विवेकका ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, और न **शम दमादि** छहों प्रकारकी सम्पत्तियोंकी प्राप्ति हो सकती और न मुक्तिको प्राप्त करनेका कोई साधन है। जबतक अनित्य पदार्थोंके साथ सम्पर्क नहीं होगा, जबतक उनका अनुभव नहीं हो जायगा, तबतक मनुष्यको इस बातका किस प्रकार ज्ञान हो सकता है कि नित्य और अनित्यमें क्या भेद है। किसी वस्तुसे तभी वैराग्य हो सकता है, उसके प्राप्तिकी अनिच्छा हृदयमें उत्पन्न हो सकती है जब पहले हमें यह मालूम हो जाता है कि यह वस्तु अनित्य और

नाशवान है तथा इसके संसर्गसे अथवा सेवनसे इहलोक तथा परलोकमें अमुक फलकी प्राप्ति होगी। जबतक वाह्य इन्द्रियां (कर्म इन्द्रियां) और अन्तःइन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) पूर्ण रूपसे अनेक तरहकी संकटापन्न विपत्तियोंमें नहीं फंस जातीं, तब तक शम दमादि साधनोंके प्राप्तिकी चेष्टा नहीं की जा सकती। जब तक मनुष्य कष्टमें नहीं पड़ता तबतक उसमें सहनशीलता और धैर्य्य नहीं आसकता। जिस विषयवासनाके फेरमें हम पड़े हैं पहले उसमें दोष देख लेंगे तभी उसके प्रति हमारे हृदयमें आशंका उत्पन्न होगी। फिर उसके समाधानके लिये गुरु और वेदान्त वाक्योंकी आवश्यकता पड़ेगी। इन उपायोंसे शंकाका निवारण हो जानेसे हृदय श्रद्धासे भर जायगा। जब जीव बन्धन बोध करने लगेगा तभी तो उस बन्धनसे मुक्त होनेकी उसमें प्रबल उत्कण्ठा प्रतीत होगी! इस संसारमें हम जितना अधिक जीवन यात्रा करेंगे उतना ही अधिक यह पथ सुपरिष्कृत होगा। इस यात्रामें पग पग पर भ्रम उत्पन्न होगा, पतन होगा पर इसी तरह हम सफलभी हो सकेंगे। उसी उत्थान और पतनके द्वारा ही सारे भ्रमोंका दूरीकरण होगा, सच्चा मार्ग दृष्टिगोचर होने लगेगा और हमारा अनुष्ठान सार्थक होगा। इसी प्रकारकी भावनासे प्रेरित होकर श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरने श्रीभगवानको लक्ष्य करके कहा थाः—

भगवान् हमारी चेष्टायें हजारों तरह की हैं, ऐसा यत्न किजिये जिससे आपकी कृपा हमें हर तरहसे प्राप्त होती रहे।

इस संसारसे मुक्त होनेके लिये तथा मोक्ष प्राप्त करनेके लिये

कर्मक्षेत्रमें प्रवृत्त होनेके साथ ही हम जिस भ्रममें पड़ जाते हैं, वह भ्रम सदिच्छाके प्रतापसे दूर हो जाता है, और आनन्द और सत्यके रूपमें खुल जाता है और इसका सञ्चालक विविध मार्गों द्वारा अपनी बंशीके ध्वनिको हम तक पहुंचाया करता है।

इस प्रकारके कर्म द्वाराही इस विश्वकी उन्नति हुई है। और इसी प्रकारका सतत कर्म करनेके लियेही हमें ईश्वरने उत्पन्न किया है। जो मनुष्य इस प्रकारके कर्म करनेका व्रत ग्रहण कर लेते हैं वे ही वास्तवमें मनुष्य कहलानेके योग्य हैं, और जो जाति इस प्रकारका कर्म करनेके लिये सदा यत्नवान और चेष्टावान रहती है वही जाति इस संसारमें उन्नति कर सकती है। जो धर्म सम्प्रदाय सर्वकर्मोंसे इस कर्मको उत्कृष्ट समझकर इसीको ग्रहण करते और सम्पादन करते हैं, वही सम्प्रदाय इस विश्वमें सर्व श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करनेके योग्य हैं। प्राचीन समयके इतिहासकी प्रत्येक पंक्तिसे यही ध्वनि निकलती है। आज संसारमें जिनकी ख्याति व्याप्त है, जो महापुरुष पदवीको प्राप्त हुए हैं, उन्होंने इसी प्रकार कर्म किया था।

इस तरह अर्थात् कर्तव्य कर्मका पालन करनेमें जो देश और जाति जितना आगे बढ़ गई है अर्थात् कर्म करनेमें जितनाही दक्ष और दत्तचित्त है, वह जाति और वह देश उन्नतिके शिखरपर उतना ही ऊपर चढ़ चुके हैं। प्राचीन रोमके निवासियोंके हृदयमें जब तक यह भाव जाग्रत रहा, तब तक रोम संसारमें श्रेष्ठतम माना जाता था। पर जिस दिनसे रोमवालोंके हृदयमें

से यह भाव उठ गया, उसी दिनसे रोम इतना नीचे गिर गया कि अब उसकी दशा ऐसी भी नहीं रही कि वह उन लोगोंके साथभी बराबरीका स्थान प्राप्त कर सके, जो किसी समय उसके पैरोंपर अपना मस्तक नवाते थे। यही हालत भारतकी थी। जब तक इसकी संतान कर्मक्षेत्रमें सबसे अग्रसर रही भारत संसारका मुकुट उज्वल करता रहा, सारा विश्व इसकी जय जय कार मनाता रहा। पर जिस दिनसे इसने भी कर्मक्षेत्रसे मुंह मोड़ा इसकी क्या दशा हो गई, यह कितना गिर गया, कहते भी नहीं बनता।

इस भारतवर्षमें जिस समय आर्यलोगोंने कर्मद्वारा गौरवके उच्चतम शिखर पर पहुंचकर चारों तरफ दृष्टि पात की, तो उन्हें विदित हुआ कि इस भूमिमें इतना पर्याप्त अन्न उत्पन्न हो सकता है, कि साधारण जीवन यात्राके लिये हमें किसी तरहके भीषण प्रयासकी आवश्यकता नहीं। इस भावके उदय होते ही कर्मोंके प्रति उदासीनताके भाव उनके हृदयमें उठने लगे। उन लोगोंने देखा कि शरीरके भरण पोषणकी सामग्री तो इस देशमें सहज साध्य है, इसलिये इसके प्रति वे लोग उदासीन हो गये। साथ ही यह भाव भी उनकी दृष्टि पथसे हट गया कि नैतिक और आध्यात्मिक उन्नतिका जो कर्म इस शरीर यात्राके लिये किया जाता है उससे घनिष्ट संबंध है। परिणाम यह हुआ कि जीविका उपार्जनके लिये कर्मेन्द्रियोंका सञ्चालन निरर्थक प्रतीत होने लगा। पर उस समय उन लोगोंकी बुद्धिमें यह बात न समाई कि बाह्येन्द्रियोंका संचालन केवल शरीरके भरण पोषणके ही लिये नहीं बल्कि अन्तरात्माकी

उन्नति और उद्‌बोधनके लिये भी नितान्त आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि गण्यमान्य लोगोंने कर्मकी तो अवहेलना की और भक्ति और अध्यात्मको ही प्रधान स्थान दिया और उसीका ज्ञान प्राप्त करना ही जीवनका परम उद्देश्य बताया। परिणाम यह हुआ कि जो नीच जातियां उस समय तक कर्मके बन्धनमें बंधी थीं, उच्छृङ्खल होगईं। यहींसे भारतवर्षका पतन प्रारंभ हुआ। जो लोग संसारके झंझटोंसे पिण्ड छुड़ाकर जङ्गलोंमें जाकर तपस्या करने लगे, उन्होंने साधु, महापुरुष और तपस्वीकी संज्ञा प्राप्त की और जो लोग संसारमें रहकर भी इस बातको भूल गये कि संसारके मङ्गलकेसाथ उनका कल्याण किस तरह दृढ़ बंधनमें बंधा है उसे भूलकर वे लोग घोर विषयी और स्वार्थमें रत होगये। इस दोनों दलने मानव समाजसे भिन्न होकर उसे छिन्न भिन्न कर डाला। जिन लोगोंने तपस्या करना स्वीकार किया था वे भी अपनी मुक्तिकी कामनामें इतने प्रवृत्त हुए कि वे भी परार्थकी चिन्ता भूल गये। इन्द्रियोंके वशमें पड़े जीवके लिये किसी बातकी चिन्ता ही नहीं रह गई। इस दशाको देखकर भक्त प्रह्लादने अति व्यथित होकर भगवानको पुकार कर कहा था :—

हे भगवन्! तुम्हारे गुणरूपी अमृतके अगाध स्रोतमें जिस समय मैं मग्न हो जाता हूं उस समय वैतरणी नदीको न पाकर रुकनेवाली मेरी चिन्ता मुझसे सैकड़ों कोस दूर भाग जाती है। उस समय यदि मुझे किसी तरहकी चिन्ता आ घेरती है तो वह चिन्ता उन मूढ़ पुरुषोंके लिये होती है, जो मायारूपी सुखके फेरमें

पड़कर तेरी भक्तिके विमुख होकर इन्द्रियोंका दास बन जाते हैं, और दुःखोंका भार अपने सिरपर लाद लेते हैं। प्रायः देखनेमें आता है कि देवता और ऋषिगण एकान्त जंगलमें जाकर बास करते हैं और तपश्चरण करते हैं पर उनकी सारी चेष्टायें मुक्तिके हेतु होती हैं। दूसरोंका उन्हें ध्यान नहीं रहता। हे भगवन्! इसलिये मोह जालमें फंसे इन सभोंको छोड़कर अकेला मैं मुक्तिकी इच्छा नहीं कर सकता। क्योंकि मैं देखता हूं तो मुझे यही प्रतीत होता है कि इस मोहचक्रमें भ्रमण करते हुए प्राणीके उद्धारका एकमात्र उपाय आप ही हैं।'

भक्त प्रह्लादके उपरोक्त भावोंको तपस्वी और संसारी दोनों ही भूल गये, दोनोंने ही संसारके कल्याणको लेकर ताखपर रख दिया और अपने स्वार्थ साधनमें लग गये।

इसका परिणाम जो होना था वही हुआ। भारतवासियोंका धीरे धीरे पतन होने लगा और वे निर्जीव, शक्तिहीन और मलिन चित्त हो गये। जो लोग मानव समाजका त्याग करके साधनामें लग गये, उनके हृदयसे कर्मयोगी होनेकी सारी चेष्टायें निकल गई और बलका अभाव हो गया और वे भिक्षुक सम्प्रदायमें परिणत हुए। जो लोग संसारी बने रह गये उनका हृदय उच्छृंखल होगया, और वह द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा, क्रोध, लोभादि नीच और कुत्सित प्रवृत्तियोंका दास बन गये। इस मार्गका अनुसरण करके जब भारतकी आर्य संतान इतने नीचे गिर गई कि उससे अधिक पतन हो ही नहीं सकता था, जब उन्हें दूसरेके पैरोंकी धूल चाटनी पड़ी

तब भगवानने उन्हें प्रत्यक्ष दिखा दिया कि कर्ममार्गसे विमुख मनुष्य या जातिकी क्या दुर्दशा होती है। जो लोग कर्मयोगी नहीं होना चाहते, कर्मसे विमुख हो जाते हैं उन्हें कर्मयोगियोंका अनुगत दास होकर रहना पड़ेगा। उनके ही सहारे चलना, फिरना और उठना पड़ेगा, यही भगवानकी इच्छा है। संसारके स्वामी भगवान प्रतिदिन इसी सत्यताको प्रमाणित करते रहते हैं। और जबतक भारतवासी इसी तरह पड़े रहेंगे और पुनः कर्म करनेके लिये सचेष्ट न होंगे, तबतक किसी भी श्रेष्ठ और उन्नत जातिके सामने खड़े होनेका उन्हें साहस नहीं हो सकता।

यह बात सबके लिये एकही तरहसे सच है चाहे वह व्यक्ति-विशेष हो, जाति-विशेष हो, या सारा विश्व हो। सर्वार्थ सिद्धि-का एकमात्र उपाय यही है कि कर्मक्षेत्रमें प्रवृत्त होकर प्राकृतिक कर्मकी योजना की जाय और सर्वस्व नाशका एकमात्र कारण कर्म मार्गसे विमुख होना है। प्राकृत कर्ममार्गका अनुसरण करने पर ही हमारे जीवनके अभीष्ट लक्ष्यकी सिद्धि होगी और इस मार्गसे विमुख होनेपर ही हमारा नाश अवश्यम्भावी है।

(२)

मोक्षसेतु

इस जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—विश्वव्यापी साक्षात सच्चिदानंद प्रभुकी उपलब्धि, उनका अवलम्बन और उनकी प्रतिष्ठा। यही मुक्तिमार्गका पुल है। इस संसारमें निवास करने वाले जीवका यही आलोच्य और करणीय विषय है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म क्या है, इसको कौन जानता है। महाकवि टेनिसनने इसी सच्चिदानन्दकी प्रतिष्ठाको "That far off divine event. वही सुदूरस्थ देवानुष्ठान" कहकर सम्बोधित किया था।

भगवान सत्, चित्, और आनन्द तीनों हैं। अपनी सत्शक्ति-का प्रयोग करके वे इस संसारको तथा इसमें निवास करनेवाले जीवोंकी रचना करते हैं और उनकी वह सत् शक्ति इस संसारमें चारों ओर व्याप्त है। अपनी चित् शक्तिद्वारा वे इस संसारको प्रकाशित करते हैं तथा इसमें ज्ञानका प्रसार करते हैं और आनन्द शक्तिद्वारा संसारमें आह्लादका प्रसार करके संसारको आनन्दित करते हैं। परमेश्वरकी सन्धिनी शक्ति हमारे कार्योंका सञ्चालन व सम्पादन करती है संवित्शक्ति हमलोगोंमें ज्ञानका प्रसार करती है और आह्लादिनी शक्ति हमलोगोंके चित्तका मनोरञ्जन करती है। वेदान्तियोंके भिन्न भिन्न मतके अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वयं सच्चिदानन्दका स्वरूप है, सच्चिदानन्दका अंश या कण है अथवा सच्चिदानन्दकी छाया है। जो कुछ हो, हमलोगोंके जीवन-

को आधार बनाकर सच्चिदानन्द परमेश्वर अनवरत रूपसे अपनी असीम लीला किया करते हैं, इसमें किसी तरहका सन्देह नहीं। चाहे किसीका व्यक्तिगत जीवन हो, मानव समाज हो, अथवा भूत समाज हो, सब ही उस सच्चिदानन्द लीलामयकी विहार भूमि है। इसका पता तो साधारण चिन्तनसे भी लग जाता है। व्यक्तिगत जीवन जितना प्रकाशमय होगा उतनाही सन्धिनी, सम्बित तथा आह्लादिनी शक्तिकी क्रिया वृद्धिको प्राप्त होती रहेगी। मनुष्य वृद्धजनोंके सहवाससे तथा शिक्षा जनित उन्नतिके प्रभावसे कितनी ही बातोंका ज्ञान प्राप्त करता है. कितनी ही क्रियायें करता है और कितनी ही क्रियाओंका उपभोग करता है और अखण्ड मण्डलाकार समस्त मानव समाजके भीतर सच्चिदानन्द प्रभुकी यह अनन्त शक्ति धीरे धीरे प्रस्फुटित होकर व्याप्त होती है, इसमें कोई किसी तरहकी आशंका नहीं कर सकता और न इसे अस्वीकार ही कर सकता है। प्राचीन इतिहासकी आलोचना करने पर हमें यही विदित होता है कि इसकी पूर्णताकी प्राप्तिके लिये हम सदा आगे बढ़ते रहते हैं। भिन्न भिन्न देशोंमें और विविध अवस्थाओंमें उन्नति तथा अवनतिके प्रत्येक तरङ्गोंमें ऊंचे उठते तथा नीचेकी ओर गिरते प्राचीन ज्ञान, प्रेम तथा क्रियातत्वको हृदयंगम करनेके उद्योगमें तथा जगत्में सर्वतो रूपसे व्याप्त उस परमानन्द परम पुरुषके विस्तारका साधन ठीक करनेके उद्योगमें ही हमलोग अर्वाचीन ज्ञान, प्रेम व क्रियाशक्तिके सहारे सच्चिदानन्दकी प्रतिष्ठाकी ओर अनवरत रूपसे चल रहे हैं।

हमारी इसी गतिका प्रमाण शिकागोका धर्मसम्मेलन है, हेगका सुविख्यात अन्तर्जातीय कलहको रोकनेकी चेष्टाजनक सन्धि परिषद तथा अमरीकाके राष्ट्रपति विलसनका राष्ट्रसंघका स्वप्न है। प्राचीन कालमें जो लोग ईर्ष्या करके एक दूसरेको सताते रहे वे ही शिकागोमें धर्म बन्धनमें एकीभूत होकर एक आसनपर परस्पर प्रेमके साथ बैठे थे। भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी लोग भी परस्पर किस प्रेमसे मिले और एक दूसरेको इज्जत की। पर इसके सौ वर्ष पहले किसीने स्वप्नमें भी इस बातका अनुमान नहीं किया था कि इस तरहका सम्मेलन कभी भी संभव है।

यद्यपि हेग सम्मेलन तथा राष्ट्रसंघने अभीतक कोई भी लाभदायक कार्य नहीं किया है, यद्यपि आज भी रणचण्डी अपना विकराल मुंह खोलकर पूर्ववत् खड़ी है और संसारको अपने अति विस्तृत उदरमें भरती जारही है तथापि यह निश्चय है कि एक दिन ऐसा आवेगा जब यह धर्माधिकरण संसार भरमें शान्तिका सुखदायक जल वर्षावेगा और इस अतिभीषण दावानलका प्रशमन करेगा। इस धर्माधिकरणकी स्थापना ही यह देखकर हुई है कि इस अवनीतलके मनुष्योंकी गति उसकी अनुगामिनी होनेकी सदिच्छा रखती है, जिस राष्ट्रसम्मेलनमें इस भावका उदय हुआ था उसमें रूसके अधिपतिने कहा था:—"जो राष्ट्र-समूह वाद-विवादसे मुक्ति लाभ करनेके निमित्त विश्वव्यापी शान्तिके स्थापनाका प्रयास कर रहे हैं, उन लोगोंका प्रयास इस शक्तिमत् केन्द्रके केन्द्रीभूत होगा।" उनकी यह कल्पना व्यर्थ नहीं थी। यह अवश्य

घटित होगी। कविगणोंने जिस अन्तर्राष्ट्रीय संघका स्वप्न देखा है और कल्पना की है वह एक न एक दिन अवश्य चरितार्थ होगा। हेग सम्मेलन उसीका पूर्वाभास था।

राष्ट्रसंघकी स्थापना भी उसी बातकी सूचना दे रही है। यद्यपि यह सच है कि गोरे और कालेका भेदभाव आज भी भीषण रूप धारण करके अनेक तरहका उत्पात मचा रहा है, अनेक तरहके अनर्थोंका कारण हो रहा है और उसी जातिगत विद्वेषाग्निमें चिरकालसे अर्जित अनेक तरहके गुणों और सुख्यातियोंकी आहुति करके उसे और भी प्रज्वलित कर रहा है तथापि इतने उपद्रवों और बाधाओंके रहते भी इस (हेग) सम्मेलनका अधिवेशन हुआ, यही भविष्यके एकीकरणकी सम्भावनाका पर्याप्त प्रमाण है। उसका यहीं सूत्रपात हुआ है।

आज वर्तमान संसारकी क्या गति है। तार, बिजली, स्टीमर तथा हवाई जहाजोंके द्वारा संसारके सभी खण्डोंका परस्पर आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, नैतिक, व्यवहारिक तथा व्यवसायिक आदि नाना प्रकारका सम्बन्ध स्थापित हो गया है। केवल भोजन और जीविकाके लिये ही नाना प्रकारकी जातियोंका परस्पर सम्बन्ध हुआ है। आज यदि ब्रिटन अन्य देशोंसे भोजनकी सामग्री न मंगावे तो उसकी अन्नकी समस्या किसी भी प्रकारसे हल नहीं हो सकती। फ्रांस, अमरीका तथा जर्मनी आदि सभी बड़े बड़े राष्ट्र करोड़ोंकी खाद्य सामग्री विदेशोंसे मंगाते हैं। इसी बातकी आलोचना करते हुए महात्मा कार्नेगीने अपने एक भाषणमें कहा थाः—

"Nations feed each other. A noble ideal presents itself for the future of man—no nation labouring solely for itself, but all for each other, thus becoming a brotherhood under the reign of peace."

अर्थात्—"संसारको भिन्न भिन्न जातियां एक दूसरेके लिये आहार संग्रह करती हैं। इस सम्बन्धने मानव समाजके भविष्यके लिये एक सुन्दर आदर्श खड़ा कर दिया है अर्थात् भविष्यमें किसी भी जातिको अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओंको आप ही पूरी करनेकी चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी, बल्कि समग्र जातियां एक दूसरेकी आवश्यकताको पूर्ण करने की चेष्टा करेंगी। इस प्रकार शान्तिके अटल साम्राज्यमें वे पूर्ण भ्रातृभावसे रह सकेंगी।" ऊपर कहे हुए अनेक प्रकारके विरोधी भावोंके रहते भी विश्वव्यापी ज्ञान, प्रेम तथा सामर्थ्यकी जो वृद्धि हुई है उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि इसे सभी स्वीकार करेंगे।

जिस तरह काल व्यतीत होता जारहा है उसी तरह पृथ्वी नई नई लीलायें देख रही है। यह लीलायें हमारे व्यक्तिगत तथा जातिगत जीवनके सहायक हैं।

आत्माकी बैठक

इस विश्वमें जितने प्राणी हैं सबके अन्तर्गत एक ही शक्ति स्थित है और वही अनन्त कार्यका सञ्चालन कर रही है। इसी भावसे प्रेरित होकर हम परस्पर एक दूसरेकी क्रिया, ज्ञान तथा आनन्दका अनुभव करते हैं और उसकी उपलब्धिमें सहायता करते हैं। इसी तत्वका ज्ञान प्राप्त करके ही किसी महद् वेदान्तीने कहा था :—

I am owner of the sphere
Of the seven stars and the solar year,
Of the Caesar's Land and Plato's brain,
Of Lord Christ's heart and Shakespeare's strain.

अर्थात् मैं इस विश्वका अधिपति हूं, सप्तर्षिमण्डल तथा सौर लोक मेरे अधीन हैं। जगत श्रेष्ठ शासक सीजरका हाथ, सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक और तत्ववेत्ता प्लेटोका मस्तिष्क, शान्तमूर्ति महात्मा ईसाका हृदय तथा सर्वश्रेष्ठ कवि शेक्सपियरकी संगीत-ध्वनि सभी मेरी प्रेरणाके फल हैं।

इस अखिल ब्रह्माण्डके अन्तरिक्षमें छिपा जो सूक्ष्म तत्व है और हमारे शरीरके अन्तर्हित जो तत्व है, इन दोनों तत्वोंमें यदि समता न होती तो हम इस ब्रह्माण्डके रहस्यका उद्घाटन करनेके लिये कभी भी अग्रसर होनेमें समर्थ न होते। यदि हमारी

अन्तरात्मामें दक्षताका आभास न होता तो हम सीजरकी दक्षताकी कल्पना करके इतना उत्फुल्ल कभी भी न होते। आज हम नेपोलियन आदि वीरोंकी वीर कहानी और साहसिक कार्य्यको पढ़ते पढ़ते उत्फुल्ल हो जाते हैं--रोमाञ्च पूर्ण हो जाते हैं, धमनियोंका रक्त गरम हो जाता है, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे हृदयके भीतर भी नेपोलियनकी स्पन्धिनी शक्ति छिपी पड़ी है। प्लेटोके दार्शनिक परिभाषाओं और गूढ़ विचारोंको देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं, कारण कि उसकी सम्वित् शक्ति हमारे हृदयमें भी बैठकर उसी प्रकार काम कर रही है। ईसाके त्याग और उत्सर्गको देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं, क्योंकि हमारे हृदयमें भी वह त्यागका भाव वर्तमान है। शेक्सपियरके वाक्याडम्बरों और कार्य्य कर्मोंको हम पढ़कर मुग्ध होते हैं, क्योंकि रसमर्मज्ञता हममें कुछ विद्यमान है, हम भी रसके भावको समझते हैं। नक्षत्रलोक, सौर-जगत् तथा वर्षके हम किस तरह अधिकारी हैं इसका ज्ञान—यदि थोड़ी देरके लिये भी हम एकान्तमें बैठकर आत्माके अन्दर प्रवेश कर जाते हैं—तो हमें सहजमें ही मिल जाता है। हम 'नक्षत्र और सौर – केवल इस दो लोककी चर्चा क्यों करते हैं? वास्तविक बात तो यह है कि 'अहम्' देश और कालसे परे है। इसी प्रसंगको लेकर एमर्सनने कहा था :—

"Before the great revelations of the Soul, Time, Space and Nature shrink away."

अर्थात् जहां आत्माका प्रकाश है वहां काल, समय और प्रकृतिका कोई रूप नहीं है। यदि यह बात नहीं है, तो उपनिषद्के कर्ता ऋषिगण, प्लेटो, शेक्सपियर, कृष्ण तथा अर्जुन आदि महान आत्माओंसे किस प्रकार संपूर्ण संसर्ग हो सकता है। जिस समय हमारा मन इन लोगोंकी चिन्तनामें लिप्त हो जाता है, उस समय देश व कालके सब भेदभाव भूल जाते हैं।

ब्रजमोहन विद्यालयमें हेरम्बचन्द्र चक्रवर्ती नामका एक छात्र था, वह बड़ा सुशील और सच्चरित्र था। मैं एक दिन उसकी डायरी उठाकर पढ़ रहा था। एक प्रसंगपर बारीसालके तटिनी-तटकी शोभाका वर्णन करते करते उसने लिखा था:—"मैं अपने स्थानसे उठा और चलकर जलराशिके ऊपर पहुंचा और उसीपर आसन लगाकर बैठ गया। वहां बैठा बैठा मैं इस संसारके चित्रकारकी चित्रण-चातुरीकी अपूर्व लीलाका आनन्द लेने लगा। एकके बाद दूसरे और तीसरे भाव उठने लगे। इस प्रकार अनेक तरहके भाव उत्पन्न हुए, पर सबसे ऊपर और सर्व प्रधान भाव इस संसारके विस्तारका भाव था। उन विविध भावोंपर विचार करते करते मुझे मालूम होने लगा कि मैं इस पृथ्वीको छोड़कर आकाशमें उड़ता चला जा रहा हूं। आकाशमें जाकर मेरा आकार इतना बढ़ गया कि मैं एकही बार अनेक नक्षत्रोंके पास पहुंच सकता था। जिस समय मैं इस विशालताके साथ अपनी तुलना करने बैठा तो मैं लाख बार खोजकर भी अपने अस्तित्वका पता नहीं लगा सका।" इन पंक्तियोंके

पढ़नेसे स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस युवकने 'अहम्' का आंशिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी तत्वका अनुभव करके महाकवि कीट्सने कहा था :— "I feel more and more every day, as my imagination strengthens that I do not live in this world alone but in a thousand worlds"—जिस प्रकार मेरी कल्पना शक्ति प्रतिदिन बढ़ती जाती है उसी प्रकार दिन प्रतिदिन मेरे हृदयमें यह भाव और भी विशेष प्रकारसे जागृत होता जा रहा है कि मैं केवलमात्र एक इसी संसारका जीव नहीं हूं, बल्कि और भी अनेक सहस्रों संसारका जीव हूं। एक मसल प्रचलित है कि 'जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है' इस कहावतका तात्पर्य यही है कि 'अहम्' सर्वव्यापक है।

हम सामान्य जीव नहीं हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम लोगोंके ज्ञान, प्रेम और सामर्थ्यका बोध है। जो कुछ हम जानते हैं, उतनेसे हम किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हैं। हम उससे भी अधिक जाननेके लिये सदा उत्कंठित रहते हैं। नूतन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये हम जितनी ही अधिक चिन्ता करते हैं उतनी ही अधिक हमारी चिन्ता और बढ़ती जाती है। एक बातको हम सोचने लगते हैं तो अनेक भाव हृदयमें जागृत हो उठते हैं। एक बात कहने लगते हैं तो अनेक ऐसे भाव उदित हो जाते हैं जिनकी कभी हमने कल्पना तक नहीं की थी। इसी रहस्यका उद्घाटन करके रावर्ट ब्राउनिंगने लिखा था:—

Truth is within ourselves; it takes no rise

From outward things, whateer you may believe;
There is an inmost centre in us all,
When Truth abides in fulness; and around
Wall upon wall, the gross flesh hems it in,
This perfect, clear conception—which is Truth,
A baffling and perverting carnal mesh
Blinds it and makes all error and 'to know'
Rather consists in opening out a way
Whence the imprisoned splendour may escape,
Than in effecting entry for a light
Supposed to be Without. Watch narrowly
The demonstration of a truth, its birth,
And you trace back the effluence to its spring
And source within us, where broods radiance vast
To be elicited ray by ray as chance shall favour.

अर्थात् सत्य हमारे अन्तस्तलमें वर्तमान है। चाहे हमारी कुछ भी धारणा क्यों न हो, पर इसकी उत्पत्ति किसी वहिरंग पदार्थसे नहीं होती। हम लोगोंके अन्तस्तलमें सत्यकी अनवरत धारा बहती रहती है। इस रक्त-मज्जामय शरीरने एक सुदृढ़ और सुकाय दुर्गकी भांति उसे चारों ओरसे घेर रखा है। इस प्रकार शरीर रूपी यह मायाजाल अपने अन्तर्गत सत्य ज्ञानको बांधकर अनेक प्रकारका भ्रमोत्पादन करता है। सत्‌ज्ञान

प्राप्तिके माने यह नहीं है कि बाहरके किसी तरहके प्रकाशसे अन्तरात्मामें स्थित जो गाढ़ अन्धकार है उसका नाश करना। अन्तरात्मामें तो अन्धकार है ही नहीं। वह तो सदासे प्रकाशित है। ज्ञानरूपी ज्योतिका उसमें निवास है। सत्ज्ञानोपार्जनका अभिप्राय यह है कि जो स्थूल दीवाल अन्तर्ज्ञानको बांधकर उसे बाहर नहीं आने देती उसीको तोड़कर सत्ज्ञानके दिव्य प्रकाशको भीतरसे बाहर लाना और बाह्येन्द्रियोंको आलोकित करना। जहां जहां सत्य प्रगटित हो, उसकी उत्पत्ति जब जब हो उन अवसरोंकी एकान्त पर्यालोचनासे विदित हो जायगा कि हमारे अन्तस्तलमें प्रभूत ज्योतिका खजाना है और उसी खजानेसे इसकी प्रत्येक किरणें धीरे धीरे इस तरफ बढ़ती हैं।"

पंचकोषने आत्माको घेरकर बांध रखा है और उसीसे अनेक अनर्थोंकी उत्पत्ति है। उस पञ्चकोषका नाश कर देनेपर ही आत्माको पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। महाकवि एमर्सनने लिखा है :—

"With each divine impulse the mind rends the thin rinds of the visible and finite and comes out into infinity" अर्थात् दिव्य भावके प्रत्येक उच्छ्वासमें मन दृष्टिके विषयीभूत ससीमका नाश करता है और असीम बनता जाता है।

ज्ञानके श्रोतकी भांति हमारे अन्तस्तलमें प्रेमका भी एक असीम श्रोत बहता रहता है। जितनाही हम प्रेम करते हैं, प्रेम करनेकी चाह उतनीही बढ़ती जाती है। आज तक कोई न कह सका कि

हम प्रेमकी अन्तिम सीमा तक पहुंच सके। हम लोगोंके अन्त-स्तलमें प्रेमका जो अगाध सागर बह रहा है, बहुत खोजनेपर भी हमें उसका किनारा नहीं मिलता। प्रेमी जितनाही खिंचता जाता है, प्रेमकी उतनी ही वृद्धि होती है। प्रेमको अनन्तताका यही लक्षण है। इसी प्रसंगको लेकर महाकवि शेलीने लिखा है :—

"If you divide suffering or dross, you may
Diminish till it is consumed away;
If you divide pleasure and love and thought,
Each part exceeds the whole"

"यदि तुम किसी प्रकार शोक और दुःखको खण्डशः कर सको तो कम होते होते उसका किसी न किसी दिन नाश अवश्य हो जायगा, पर आनन्द, प्रेम और चिन्ताका यदि टुकड़ा कर डालो तो उलटा ही परिणाम होगा, अर्थात् प्रत्येक भाग सम्पूर्णसे भी बढ़ जायगा।"

पहले पहल साधारण दृष्टिसे प्रेम करना आरम्भ करो। तुम देखोगे कि प्रेमकी मात्रा बढ़ती जा रही है, और प्रेमी तुम्हारे दृष्टिपथपर अधिकाधिक आरूढ़ होता चला जा रहा है। इस प्रकार तुम्हारे मूल प्रेमकी वृद्धि होगी। अब प्रेमी तुमसे जितना ही दूर रहना चाहेगा तुम्हारा अनुराग उसके प्रति उतनाही बढ़ता जायगा। यही बात ज्ञानके संबन्धमें भी है। इसके द्वाराही ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेनके जीवन वेदके विचित्रगणितकी सत्यता प्रगट होती है। उनका कथन थाः—तीनमेंसे सात गया बाकी बचा दस।"

सामर्थ्य संबन्धके विषयमें भी यही बात सत्य देखनेमें आती है। जितनाही आचरण किया जाता है उतना ही अधिक उत्कण्ठा उत्पन्न होती है कि और भी नई क्रिया कर सकता। पृथ्वी इतनी वृद्धा हो गई है तोभी प्रत्येक क्रियाके आरम्भमें वह सदा नई नवेली प्रतीत होती है। इसे देखकर कवि टेनिसनने कहा था :—

"We are ancients of the earth

And in the morning of the times."

अर्थात हमलोग इस पृथ्वीसे कहीं अधिक प्राचीन हैं पर युग युगान्तररूपी जो समय है उसका अभी प्रभात हुआ है।

वैज्ञानिक खोज द्वारा नई नई वस्तुओंका जितना ही अधिक पता लगता जाता है, मनमें उतनाही अधिक दृढ विश्वास जमता जारहा है कि और भी अनेक नई वस्तुओंका भण्डार भूगर्भमें संचित है और जितना ही खोज किया जायगा उतनाही पता लगता जायगा। सातो, डूमो, मारकनी, एडिसन, बरबंक, सर जगदीशचन्द्र बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय आदि महापुरुष क्रिया सागरमें जितना अधिक डुबकी लगा सके हैं, जितनी गहराईमें प्रविष्ट हो सके हैं उतना ही बहुमूल्य रत्न निकालकर प्रगट कर सके हैं। इस तरहसे प्राप्त अनेकों रत्न देखे फिर भी सन्तोष नहीं होता और मनमें यही भाव उठता है कि अभीतक तो आरम्भ भी नहीं हो सका है और दृष्टिकी भी यही हालत है। जिस किसी पदार्थपर दृष्टिपात करते हैं मन उसीमें मुग्ध हो जाता है। आंखें उसीमें गड़ जाती हैं, तृप्ति नहीं होती। आकाशमें स्थित तारकागणको

देखकर तथा इस अवनीतलकी शोभाकी नाना विध वस्तुओंकी रमणीयता देखकर मनमें यही भाव उठता है कि यदि हमारे हजार और लाख आंखें होतीं तभी शायद मैं इस अवर्णनीय सौन्दर्य-को देख कर तृप्त हो सकता था। क्षितिज (जहां आकाश और पृथ्वी मिलते दिखाई देते हैं) पर आकाश अटल आसन जमा कर डट जाता है और दृष्टिपथको अवरुन्धन कर देता है। इस समय मनमें यही इच्छा होती है कि इस व्यविधानको लेकर फेंक दूं और इसके आगे क्या है उसको भी इन आंखोंसे देख-लूं। जिस समय ज्ञानकी चर्चा होने लगती है और मन उसमें लीन हो जाता है उस समय हृदयमें यही भाव उत्पन्न होते हैं कि ईश्वरने हमें एक ही मस्तिष्क क्यों दिया। हमें शत और सहस्र मस्तिष्क क्यों नहीं दिया। हम उसी अनन्त महा पुरुषके सन्तान हैं जिसके हजार सिर हैं, हजार आखें हैं और हजार ही पाद हैं। हम लोगोंकी मानसिक वृत्ति और शारी-रिक वृत्ति इस अवनीतल पर एक प्रकारका बन्धन प्रतीत करती है। इस पृथ्वीतल पर हम लोगोंकी वृत्तियां अबाधित रूपसे विस्तार नहीं पातीं। मनमें उठता है कि हम सागरके जीव किसी देहाती कुएंमें लाकर रख दिये गये हैं। देश और काल-के सम्बन्धमें हमारा मन दूरातिदूरतक सम्बन्ध रखना चाहता है, उसीमें वह अपनी तुष्टि मानता है। अतीतमें तुम अपने मनको जितनी दूर चाहो ले जाव, हजारों शताब्दियोंकी बीती घटना-पर दृष्टिपात करो, पर तुम देखोगे कि इतनेसे ही तुम्हें सन्तोष

नहीं होगा, तुम्हारी दृष्टि और भी आगे बढ़ना चाहेगी। यही बात भविष्यके लिये भी सच है। भविष्यके सहस्रों वर्षको कल्पना कर डालो पर तुम्हें सन्तोष नहीं होगा। चाहे किधर ही देखो सन्तोष नहीं है। इसीलिये दिशाविदिशाओंमें व्याप्त महासागरका अगाध विस्तार देखकर हमारा प्राण उलट पड़ता है। इसी अतृप्तिका अनुभव कर महाकवि देशबन्धु चित्तरंजन दासने समुद्रको सम्बोधन करके अपनी सागर कथामें कहा है :—

ए पार ऊ पार करि, परि ना त आर।
आज मोरे लये जाऊ अपारे तोमार।
पराण भासिया गेछे कूल नाहि पाई,
तोमार अकूल विना, कोथा तार ठाँई।

हम न तो इस पार ही रहना चाहते हैं और न उस पार ही पहुंचना चाहते हैं। हमारा ध्यान सदा अपार और अकूलपर रहता है। हमारी एक तरफ तो भविष्यका अगाध सागर तरङ्ग मार रहा है और दूसरी तरफ अतीतका अगाध सागर हिलोरें ले रहा है। इसीमें हम सन्तुष्ट हैं, इससे कममें हमारी तृप्ति नहीं। इसी भावको हृदयङ्गम करके महाकवि कार्लाइलने लिखा थाः—

"Man is a visible mystery walking between two eternities and two infinitudes." मनुष्य-जीवन एक दृश्यमान गमनशील रहस्यमय पदार्थ है जो दो अनन्त देश और कालके बीच भ्रमण करता है। गमनशील अर्थात् जन्मसे लेकर

मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है। सब कोई देखते हैं पर कोई भी इसके मर्मको नहीं बूझ सका है। इसीको दृश्यमान रहस्य कहते हैं। इसीको लेकर भगवान श्रीकृष्णने भगवद्गोतामें कहा है:—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत

अव्यक्तनिधनान्येव ॥

अर्थात् हे अर्जुन! न तो इसका आदि दृष्टिगोचर होता है और न इसका अन्त। इस जगतके इस अनन्त प्रसारके बोच किसीने न जाने कौन वाधा उपस्थित कर दो है। जिस समय हम इस वाधासे मुक्ति लाभ कर लेंगे उसी समय हमें अपने असली रूपका ज्ञान मिलेगा। यह वाधा उसो समय दूर हो जायगी जिस समय हमारे शरीरमें आत्मबुद्धि अपना प्रतिष्ठान कर लेगी। इसी प्रसङ्गको लेकर अष्टावक्र संहितामें लिखा है:—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिंदि विश्राम्य तिष्ठसि।

अधुनैव सुखी शान्तो वन्धमुक्तो भविष्यसि ॥

अर्थात् यदि देहको पृथक् करके 'चित्' में विश्राम कर सकोगे उसो समय सुखी, शान्त तथा बन्धनसे मुक्त हो जाओगे।"

'चित्' का प्राकृतिक धर्म असीमत्व है अर्थात् वह सीमा रहित है। इसो असोमत्वको देखकर तत्वज्ञानी हेगलने कहा था:—It is speaking rightly the very essence of thought to be infinite. The nominal explanation of calling a thing finite is that it has an end, that

it exists up to a certain point only, where it comes into contact with and is limited by its other. The finite therefore subsists in reference to its other, which is its negation and presents itself as its limit. Now thought is always at its own sphere, its relations are with itself and it is its own object. In having a thought for object I am at home with myself. The thinking power, the "I" is therefore infinite, because when it thinks, it is in relation to an object which is itself. Generally speaking, an object means a something else, a negative confronting me. But in the case where thought thinks itself, it has an object which is at the same time no object; in other words its objectivity is suppressed and transformed into an idea. Thought, as thought, therefore in its unmixed nature involves no limits, it is finite only when it keeps to limited categories which it believes to be ultimate."

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि 'चित्' का मूल धर्म ही असीमत्व है, अर्थात् वह सीमा रहित है। यदि किसी पदार्थके विषयमें यह कहा जाय कि यह सीमित है तो

इसके माने यह हुआ कि इसका अन्त है अर्थात् किसी निर्दिष्ट सीमा तक तो इसकी गति है, फिर इसके बाद दूसरी वस्तुका आरम्भ हो जाता है। इससे यह अभिप्राय निकला कि सीमित वस्तुका किसी अन्य वस्तुसे संबन्ध है, जो इसको सीमाबद्ध करती है और इसके अस्तित्वको और आगे नहीं बढ़ने देती। पर 'चित्' सदा अपने ही लोकमें निवास करता है। उसका किसी अन्य पदार्थके साथ सम्बन्ध नहीं है। 'चित्' की चिन्ताका विषय भी 'चित्' ही है। ऐसी दशामें हम अपनेहीमें स्थित हैं। इसलिये चित् शक्ति अर्थात् 'अहम्' अनन्त और असीम है, क्योंकि किसी अन्य पदार्थ द्वारा उसकी सीमा बद्ध नहीं है। साधारणतः चिन्ताके विषयकी चर्चा करनेसे हृदयमें किसी भिन्न वस्तुका बोध होता है जो 'अहम्' से भिन्न है। इसलिये 'चित्' ससीम अनात्मकी चिन्तामें व्यस्त रहनेपर ससीम प्रतिभासित होता है, पर जो 'चित्' अनात्मके सम्बन्धसे मुक्त हो गया है वह असीम है।

महर्षि याज्ञवल्कने अपनी धर्मपत्नी ब्रह्मवादिनी मैत्रेयीको इसी आत्मतत्वका उपदेश दिया था :—

"यत्र हि द्वैतमिति भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणोति। तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र तस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कम् पश्येत्, केन कं जिघ्रेत्तत् केन कं रसयेत्तत् केन कं मभिवदेत्तत् केन कं शृणुयात्तत्

केन कं मन्वीत तत् केन कं स्पृशेत्तत् केन कं विजानीयाद् येनेदं सर्वं विजानाति तम् केन विजानीयात् ?"

"जहांपर द्वैत भाव रहता है वहां एक दूसरेको देखता है, एक दूसरेको सूंघता है, एक दूसरेका रस लेता है, एक दूसरेसे बातें करता है, एक दूसरेकी सुनता है, एक दूसरेका मनन करता है, एक दूसरेका स्पर्श करता है और एक दूसरेका ज्ञान लाभ करता है। पर जिस स्थलपर सभी आत्मभूत हो गया है आत्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं रह गई है, वहांपर कौन किसका दर्शन करेगा, कौन किसको सूंघेगा, कौन किसका आस्वादन करेगा, कौन किसके साथ वार्तालाप करेगा, कौन किसकी बात सुनेगा और कौन किसको जानेगा? जिसके द्वारा इन सबकी ज्ञानप्राप्ति हो सकती है, उसको हम किस उपायसे जान सकते हैं?"

जिसने निर्जन बनमें एकान्त निवास करके कुछ ज्ञान लाभ किया है, वही जान सकता है कि समय समयपर हम अपने निज शरीरको एवं अपने चारों ओर व्याप्त इस विश्वमण्डलको भूल सकते हैं। कुछ समय तक स्थिर समाधि लगानेके बाद पहले तो बाह्य संसारका फिर उसके बाद अपने अङ्ग प्रत्यंग—हाथ पैर आदि—का ज्ञान मनुष्य भूल जाता है। इसके बाद धीरे धीरे चिन्ताका प्रवाह रुक जाता है—द्वैतका भाव मिट जाता है और आत्मासे परे कोई वस्तु नहीं रह जाती। इसी अवस्थाका स्मरण करके देवर्षि नारदने व्यासदेवसे कहा था:—

नापश्यदुभयं मुने ! हे ऋषिदेव ! उस समय दोनों मेरी स्मृतिपथमें न आये।" जब समस्त वस्तुओंका ज्ञान मिट जाता है तब एक अनिर्वचनीय भावका उदय होता है। यह भाव ठीक उसी तरहका होता है जैसा ससीमके त्यागके बाद असीमका भाव उदय होनेपर होता है। जिस समय मनुष्य इस तरहके भावसे आविष्ट होता है उस समय वह यदि विदेह न होकर (अर्थात् शरीरकी स्मृति न भूलकर) अपना भाव व्यक्त कर सकता तो आनन्दमें उत्फुल्ल होकर वह भी विवेक चूड़ामणिके शब्दोंको सानन्द दोहराता कि :—

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदुत्तमम्

यह संसार कहां गया, इसे कौन उठा ले गया, इसे कहां गायब कर दिया। मैंने इसे अभी यहीं देखा था पर एक क्षणमें ही वह कहां चला गया। बड़े ही आश्चर्यकी बात है।

वुद्धिर्विनष्टो गलिता प्रवृत्तिः
ब्रह्मात्मनो एकतयाधि गत्या
इदम् न जानेऽप्ययमिदं न जाने
किम्वा कियद्वा सुखमस्य पारम् ।

ब्रह्म और आत्माका एकत्व ज्ञान प्राप्त करके हमारी बुद्धि नष्ट भ्रष्ट हो गई और मेरे चित्तकी प्रवृत्तियां जीर्ण तथा शीर्ण हो गई। न तो अब मुझे इस विश्वका ज्ञान रह गया है और न इसके

परे क्या है इसका ही ज्ञान रह गया है। और न तो इसका मुझे कोई ज्ञान है, कि इसमें क्या दुःख है तथा उसमें क्या सुख है।

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा गन्तुं न वास्वा द्यते
स्वानन्दामृत पूर पूरित परब्रह्माम्बुधेर्वैभवम्
अम्भोराशि विशीर्णि वार्षिक शिलाभावं भजन्मे मनो
यस्यांशांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निर्वृतम्

अर्थात् जिस प्रकार जल राशिमें वर्षाकालीन शिला गिरकर उसी जलराशिमें गायब हो जाती है, उसी प्रकार मेरा मन भी उसीके अनुरूप सागरके अंशांश कणके बीचमें विलीन होकर परमानन्दको प्राप्त हो गया है। उस ब्रह्मसागरमें विलीन हो जानेसे जो आनन्दकी अनुभूति प्राप्त होती है, उसका न तो हम वर्णन कर सकते हैं न उसके बारेमें सोच ही सकते हैं और न उस आनन्दका आभास ही प्राप्त कर सकते हैं।

आनन्दमें समस्त एकाकार हो गई हैं। वास्तवमें जिस समय चित्तकी तन्त्रियां इस प्रकारके भावकी तरंगोंमें बोल उठती हैं और शरीर, मन बुद्धि तथा चराचर विश्व ये सम्पूर्ण जिस आनन्द तरंगमें डूब जाते हैं उसकी तुलना इस संसारमें कहीं नहीं प्राप्त है। पर जब तक शरीर और मनके भिन्न अस्तित्वका ज्ञान मनुष्यके चित्तमें वर्तमान रहता है उस समय शरीरके प्रत्येक अंगको कष्टका अनुभव होता है। वह अनुभव ठीक उसी प्रकारका होता है जिस प्रकारका दुःख उस पक्षीको होता है जो

एक बार मुक्त हो जानेके बाद फिर पकड़कर उसी पिंजरेमें ठूस दिया जाता है। महाकवि वर्ड्स्वर्थने प्रकृतिकी अनन्त रचनाकी शोभा देखते देखते तथा सम्राट् टेनिसनने 'अहम्' का नाम जपते जपते इसी ज्ञानकी उपलब्धि की थी। महाकवि वर्ड्स्वर्थने नदी तीरकी शोभामें निमग्न होकर जिस भावका ज्ञान प्राप्त किया था उसका वर्णन उन्होंने यों किया है :—

That blessed mood
In which the burthen of the mystery
In which the heavy and the weary weight
Of all this unintelligible world
Is lightened:—that serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on—-
Until the breath of this corporeal frame
And even the motion of your human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body and become a living soul.

वह सुखमय भाव— जिसकी अभिव्यक्तिसे विश्वके रहस्यके उद्धार करनेका भाव और इस दुर्बोध्य पृथ्वीके अगोचर सार तत्वके समझनेका बोझ हलका हो जाता है, वह मधुर और दिव्य भाव जिसमें हृदयकी मधुर स्नेहमयी वृत्तियां धीरे धीरे उस अवस्थाको पहुंचती हैं कि हमलोगोंके शरीरकी गति, यहां तक कि रुधिरका प्रस्रवण भी रुक जाता है, हमलोगोंको अपने शरी-

रकी सुध बुध नहीं रह जाती और आत्मा जागृत हो उठती है।'
इसी प्रसंगको लेकर कवि सम्राट् टेनिसनने कहा था:—

More than once when I
Sat all alone, revolving in myself,
The word that is the symbol of myself,
The mortal limit of them Self was loosed,
And passed into the Nameless, as a cloud,
Melts into Heaven. I touched my limbs, the limbs
Were strange, not mine—and yet no shade of doubt
But utter clearness, and this loss of Self,
The gain of such large life as match'd with ours
were Sun to spark—unshadowable in words,
Themselves but shadows of a shadow-world.

ऐसा अनेक बार हुआ है कि जिस समय एकान्तमें बैठा आत्मतत्वकी चिन्ता कर रहा था मुझे प्रतीत हुआ कि मेरी आत्मा शारीरिक बन्धनसे छूट गई और जिस प्रकार अनन्त मेघराशि सहसा आकाशमें विलीन हो जाती है, उसी तरह मेरा आत्मतत्व भी नामातीतमें विलीन हो गया। उस समय जब मैंने अपने अंगोंका स्पर्श किया तो मुझे प्रतीत हुआ कि ये अंग मेरे नहीं बल्कि अन्यके हैं। पर उसमें सन्देहका लेशमात्र भी नहीं था, क्योंकि सम्पूर्ण परिष्कृत दिखाई दे रहा था। मेरा आत्मतत्व इतना विस्तृतरूप धारणकर गया था कि इस जीवनके साथ उसकी

तुलना करना सूर्यको दीपक दिखाना था। वह भाव समीचीन रूपेण शब्दोंमें भी नहीं प्रगट किया जा सकता, क्योंकि शब्द भी तो इस पृथ्वीके छायामात्र हैं। इसी विषयको लेकर योगवाशिष्ठमें महर्षि वशिष्ठने कहा है—

अयमेवाहमित्यस्मिन् संकोचे विलयं गते
समस्तभुवनव्यापी विस्तार उपजायते।

यह शरीर मेरा है, मैं इस शरीरका अधिपति हूं, इस तरहके भाव हृदयसे उठ जाने पर समस्त विश्वव्यापी विस्तारकी उपलब्धि होती है।

इसी भावके आवेशमें आकर कवि शशांक मोहन आनन्दसे उत्फुल होकर अलापते थे।

इसीको आत्म प्रतिष्ठा कहते हैं और यही परम प्रभु सच्चिदानन्दकी प्रतिष्ठाका आभास है।

(४)

पूर्ण और अपूर्ण मैं ही हूं

—०—०—

आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, 'अहम्' नहीं है । आत्मा विश्वव्यापी और विराट है, 'अहम्' संकीर्ण और ग्रन्थिवद्ध है । आत्मा रक्त-मांससे परे है और विश्वको निर्माण करने वाली जो विधियां हैं उसमें रमण करता है, 'अहम्' रक्त-मांसके पिण्डसे बना है और इसी विश्वका जीव है। आत्मा हमारा तुम्हारा और समग्र संसारका कल्याण एक समझती है 'अहम्' एक ही कुटुम्बमें अनेक प्रकारके भेद भावका लक्ष्य करता है। परमहंस श्रीरामकृष्णके शब्दोंमें जो आत्मा अपनेहीमें पूर्णता और अपूर्णता देखती है, उसीके लिये कहा है :—

एकोऽवर्णो वहुधाशक्तियोगादवर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति

अर्थात् आत्मा एक है और वर्णहीन है पर आवश्यकताके अनुसार विविध प्रकारकी शक्तियोंके योगसे अनेक वर्ण धारण करती है।

यह ब्रह्माण्ड एक विचित्र क्रीडास्थल है। इसका विधाता भी उस लीलाका विचित्र पात्र है। वह इस पृथ्वी तलमें प्राणी मात्रमें एक शक्ति और एक ही प्रवाह देखता है। विज्ञान द्वारा भी यही सत्य प्रमाणित हुआ है। किसी बड़े भारी विद्वानका मत है :— जिस प्रकार ऊपरकी ओर फेंका हुआ ढेला पृथ्वीकी तरफ खिंच जाता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी पृथ्वीकी ओर आकृष्ट होते हैं।

सूर्यकी रश्मियोंके विश्लेषणसे जिन पदार्थोंको प्रकाश मिलाता है वे धातु और वाष्प सभी इस भूतलमें विद्यमान हैं और सूर्यमें भी वे सब धातुयें विद्यमान हैं। ऐसी कौनसी शक्ति है जो अति-दूरवर्ती और स्थिर नक्षत्रोंके समूहको, शुक्लवर्ण तथा धूम्रवर्ण धूम्रकेतुको भी वही प्रकाशित करती है। हमारे सूर्य जगतके नक्षत्र गण जिन नियमोंके वशवर्ती हैं उसी प्रकार सूक्ष्म पर्यालोचनसे प्रगट होता है कि प्रकाशके खजाना दोनों नक्षत्रगण भी एक दूसरे-को आकृष्ट करते हुए उसी नियमके वशवर्ती हैं। इससे हम इस परिणामपर पहुंचते हैं कि इस पृथ्वी-तलपर हम जिस एकताका अनुभव करते हैं उसका आभास इस भूतलसे भिन्न स्थानपर भी गोचर है। विज्ञानने अनुसन्धान द्वारा यही बात सिद्ध कर दिखलाई है कि कोई भी वस्तु -चाहे वह इन्द्रिययुक्त हो वा इन्द्रियहीन हो, जीव सहित हो या जीव रहित हो, चाहे वह उद्भिज जगतका जीव हो या चेतन जगतका, ज्ञानभूमिमें उत्पन्न हो अथवा नीति भूमिमें, इस अवनीतलपर उत्पन्न हो अथवा उस विस्मय तथा आनन्दमें अभिषिक्त जीव हो जो ज्योतिष्क-मण्डलवृन्दमें देखनेमें आता—सदा और सर्वदा इस अज्ञात और कल्पनातीत जीवनमें शक्तिकी लीलामें संगत, समंजसीभूत और एक है। पश्चिम देशके वैज्ञनिकोंने खोजकर निकाला है कि:—गर्मी, प्रकाश, बिजली और आकर्षक धातु ये सभी एक ही शक्तिके विविधि रूप हैं। विज्ञानाचार्य सर जगदीश-चन्द्र बोस महाशयने अनेक वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा यह

सिद्ध कर दिखलाया है कि इस पृथ्वी तलके अनेक सजीव और निर्जीव पदार्थ एक ही प्रकारकी शक्ति द्वारा सञ्चालित हैं और एक ही प्रकारकी क्रियामें रत हैं। अनेक प्रकारके प्रयोगों द्वारा बोस महोदयने यह सिद्ध कर दिखाया है कि आघात प्रतिघात, सुषुप्ति और बेहोशी तथा जरा मरणके रक्त-मज्जा निर्मित मानव शरीर पर जो लक्षण देखनेमें आते हैं वे ही उद्भिज पदार्थों पर भी देखनेमें आते हैं।

अनेक प्रकारकी क्रियाओं द्वारा प्रकृत विज्ञान जिन सिद्धान्तों-की सत्यता प्रमाणित करता आ रहा है कवि सम्राट् टेनिसने उन्हीं सिद्धान्तोंका ज्ञान किसी टूटे फूटे किलेमें विकसित एक पुष्पके द्वारा प्राप्त करके कहा था:—

"सुमन यदि मैं तेरी प्रतिभाका ज्ञान प्राप्त कर सकता तो मुझे यह सहजमें ही उद्भासित हो जाता कि मनुष्य और ईश्वर क्या पदार्थ हैं।"

अर्थात् एक साधारण पुष्पकी सत्ताका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह विश्वकी सत्ताका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते। इससे विदित हुआ कि दोनोंकी सत्ता एक है। महात्मा टालस्टाय अपनी जीवन गाथा लिखते लिखते एक स्थान पर लिख गये हैं:—

"I was all alone and it seemed to me that mysterous, majestic Nature, the attractive bright disc of the moon, which had for some reason

stopped in one undefined spot in the pale blue sky, and yet stood everywhere and as it were filled all the immeasurable space and myself, insignificant worm, defiled already by all pretty wretched human passions, but with all immeasurable mighty power of love, it seemed to me in those minutes that nature and the moon and I were one and the same."

अर्थात् मैं एकान्तमें बैठा था। मुझे प्रतीत हुआ कि रहस्यमयी महिमान्विता प्रकृति देवी तथा उज्ज्वल चन्द्रमाका विम्ब —जो किसी अनिर्वचनीय कारणवश नीलाकाशके एक प्रान्तमें ठिठक गया है तोभी सर्वत्र व्याप रहा है और अगणित देशोंको अपनी रश्मियोंसे प्रकाशित कर रहा है और मैं इस पृथ्वीका एक तुच्छ जीव, संसारके सभी प्रकारके कलुषित विचारोंके वशीभूत पर प्रेमके अनिर्विण्ण स्रोतमें निमग्न मुझे उस समय यही प्रतीत होता था कि यह पृथ्वी, यह चन्द्रमा और मैं एक ही स्थानके जीव हैं। इनमें और मुझमें कोई भेद नहीं है।

अध्यात्म विज्ञानके प्रभावसे महर्षियोंने इसी रहस्यका उद्घाटन किया था। यही कारण है कि इस वर्णहीन भूमि ही "पूर्ण मैं हूं" का कर्मक्षेत्र है। "मैं अपूर्ण हूं" यह भाव सर्वत्र पार्थक्यका अनुभव करके अपने क्षुद्र शरीरको ही कर्मकेन्द्र मान लेती है। हमारी 'अपूर्णता' में 'अहम्' का भाव

भरा है। पर पूर्णताका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर 'अहम्' का भाव विलीन हो जाता है और उस सच्चिदानन्दकी व्यापकताका बोध होता है। इससे यह निश्चय हुआ कि हमारी पूर्णता कर्मयोगमें और अपूर्णता कर्मभोगमें है। जब तक हम कर्मभोगी रहते हैं अपूर्ण रहते हैं। और जब हम कर्मयोगमें निष्ठित होते हैं कर्मयोगी बन जाते हैं।

मनुष्य असीम शक्ति प्राप्त कर लेनेपर भी 'अहम्' रूपी शब्द-के फेरमें पड़कर 'अहम् महीयान्' के भावको व्यक्त करनेमें अपनी प्राकृत महत्ता भी खो बैठता है।

दक्ष प्रजापतिके यज्ञकी पौराणिक कथा इसी सिद्धान्तको पुष्ट करती है। अशेष गुणोंसे युक्त होकर भी दक्ष सर्वेश शिवकी महत्ताको भूल गये और उनको नीचा दिखानेके लिये अपने "अहम् महीयान्" के भावको व्यक्त करने लगे। परिणाम यह हुआ कि उनका घोर पतन हुआ, जो यज्ञकुण्ड उन्होंने यज्ञपदार्थोंकी आहुतिके लिये बनाया था उसमें उन्हींकी आहुति दे दी गई। दक्ष इतने कार्यकुशल थे कि वे वास्तवमें दक्ष नामको चरितार्थ करते थे। उनके सोलह कन्यायें थीं। उनमेंसे तेरह कन्यायें धर्मको, एक अग्निको, एक संयत पितृगणको, और एक संसारके कष्ट निवारक, कल्याण कारक शिवको प्रदान किया। जिन त्रयोदश कन्याओंको उन्होंने धर्मको पत्नीत्व रूपसे दिया उनका नाम था— श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री तथा मूर्ति। इन त्रयोदश कन्यायोंके निम्न लिखित पुत्र

उत्पन्न हुए :--श्रद्धाको शुभ, मैत्रीको प्रसाद, दयाको अभय, शान्तिको सुख, तुष्टिको हर्ष, पुष्टिको स्मर, क्रियाको योग, उन्नतिको दर्प, बुद्धिको अर्थ, मेधाको स्मृति, तितिक्षाको मंगल, ह्रींको विनय और सर्वगुण सम्पन्ना मूर्त्तिसे नरनारायण नामके दो ऋषिकुमार उत्पन्न हुए।

पुष्टिसे स्मरकी उत्पत्ति हुई। इससे प्रगट होता है कि पुष्टि प्राप्त होनेसे ही एक अनिर्वचनीय आनन्दकी उपलब्धि होती है। 'स्मर' शब्द 'स्मि' धातुसे बना है। इसका शब्दार्थ है मुस्कराना। असीम उन्नति हो जाने पर जो एक तरहका घमण्ड दृष्टिगोचर होने लगता है वह भी धर्मका सगा भाई है। इसलिये दर्पको पापसे परिवेष्टित नहीं मानना चाहिये। बुद्धिसे अर्थका उद्भव है अर्थात् अभीष्ट पदार्थकी सिद्धि बुद्धि द्वारा ही होती है। मूर्तिसे अभिप्राय प्रकृतिके प्रतिरूपसे है। इसीमें सत्व, रज और तमोगुणकी लीला होती है और यही कारण है कि मूर्तिको सर्व गुणोत्पत्ति स्वरूपा कहते हैं, तथा नेत्रोंमें धर्म रूपी अंजन लगाकर इसकी उपासना करनेसे विदित होता है कि नर और नारायण परस्पर किस तरह आवद्ध हैं। इस प्रगट विश्वमें--अर्थात् इस संसारमें प्रकृतिका जो रूप हम देखते हैं भगवानका जो दिव्य प्रकाश है--उसीको हम नारायण संज्ञा देते हैं। नर और नारायणका सौहार्द अर्थात् नारायण नरके मंगलका किस प्रकार विधायक हैं इस त्रिगुणात्मकका इस विश्वके अनुष्ठानमें प्रत्यक्ष रूपसे चिन्तन करनेसे चित्र उद्भासित हो उठता है।

यहांतक तो हम यह देखते रहे कि धार्मिक पुरुष श्रद्धा, मैत्री आदि तेरह कन्याओंकी उपासना द्वारा क्या क्या प्राप्त कर सकता है।

दक्षने स्वाहा नामकी अपनी कन्याको अग्निको दिया, क्योंकि शास्त्रोंका विधान है कि संसारी गृहस्थको देवताकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ अवश्य करना चाहिये। 'हवन' की आहुति देते समय 'स्वाहा' मन्त्रका उच्चारण करना पड़ता है।

स्वधा नामकी कन्याको उन्होंने पितृगणोंको दिया। इसके द्वारा संसारी जीव तर्पणादिकसे पितृगणोंको सन्तुष्ट करके निश्चिन्त होते हैं।

पन्द्रह कन्याओंके बाद सबसे छोटी सोलहवीं कन्याका जन्म हुआ। श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा ह्री तथा मूर्ति इन तेरह मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक शक्तियोंके तथा इनके फल स्वरूप उन सब गुणोंकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्य स्वतः देवता तथा पितरोंके प्रति श्रद्धायुक्त होकर श्राद्धादि करता है और कृतकृत्य होता है। इस प्रकारके उत्कृष्ट जीवन गठित होने पर सतीका जन्म होता है। समस्त ब्रह्माण्डके मूलमें जो शक्ति है, समस्त अनित्यको ढके हुए स्थित जो नित्य शक्ति, नित्य प्रति क्रीड़ा करती है और जो उत्पन्न करनेवाली, पालन करने वाली और अन्तमें संहार करने वाली आदि शक्ति है उसका ज्ञान मिलता है। जिन लोगोंने उस आदि शक्तिका ज्ञान प्राप्त कर लिया है वे ही सृष्टि, स्थिति तथा लयकर्ताका

ज्ञान प्राप्त कर इस भवके बाधासे मुक्त हो गये हैं। यही कारण है कि तत्वदर्शी महर्षिने सतीके विवाहकी कल्पना भवजालको नाश करनेवाले भव अर्थात् शिवके साथ की है।

जिन्हें इस महत् ज्ञानकी पूर्णतया प्राप्ति हो गई है वे ब्रह्मानन्दका ज्ञान प्राप्त करके संसारके सभी भय बाधाओंसे मुक्त हो जाते हैं। जो जीव यह अधिकार प्राप्त करके भी उससे लाभ नहीं उठाना चाहते वेही दक्षकी भांति अभागे हैं। दक्षने इस प्रकार उच्च ज्ञानका अधिकारी बन कर भी यज्ञमें महादेवको निमन्त्रित नहीं किया। उनके प्रतापको भूलकर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करनेके लिये विश्व प्रख्यात यज्ञ आरम्भ किया। इसका जो परिणाम होना चाहिये था वही हुआ। सतीने प्राण त्याग किया। जो शक्ति शंकरकी अर्धांगिनी बनी थी, दक्षके हृदयमें वही शक्ति अन्तर्हित हो गई। जिस समय वह शक्ति लुप्त हुई उसी समय रुद्रके तेजसे वीरभद्रका अवतार हुआ जिसने दक्षके सम्पूर्ण यज्ञका विध्वंस करके दक्षका सिर काट डाला और उसे उसी अग्निकुण्डमें डाल दिया। नाना गुणोंसे विभूषित, सैकड़ों विधिके शुभ अनुष्ठानोंको करने वाला भी मनुष्य यदि भगवानका शत्रु बन जाता है तो रुद्र विधिसे इसी प्रकार उसके सभी गुणों और शुभाशुभ कर्मोंका नाश हो जाता है और उसके मनुष्यत्वका अपहरण हो जाता है। दुर्योधन १८ अक्षौहिणी नारायणी सेना लेकर महाभारतके युद्धमें प्रवृत्त हुआ था। पर एक नारायणकी सहायता विना उसका सर्वस्व नाश हो गया। अर्जुनके एकमात्र

सहायक वे ही नारायण थे और अर्जुन त्रैलोक्य विजयी हुए। और एक बार यही अर्जुन नारायणसे विहीन होकर सभी साधनों और उपकरणोंके रहते भी साधारण ग्वालोंसे परास्त होकर महाराज युधिष्ठिरसे बोले थे :—

सोऽहम् नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः
अध्वन्युरूक्रम परिग्रहमङ्गरक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ।

हे राजन्! मैं वही अर्जुन हूं पर मैं अपने परमप्रिय मित्र पुरुषोत्तम भगवानके विरहसे कातर होकर हृदयकी सारी शक्तियोंसे शून्य हो गया हूं। इस प्रकार मैं मार्गमें श्रीकृष्णचन्द्रके परिवारकी रक्षा करता आ रहा था कि नीच गोपगणोंने साधारण स्त्रीकी भांति मुझे परास्त कर दिया।

नारायणके विना सारी तैयारी और समस्त साधन व्यर्थ हैं। इसलिये नारायणसे शून्य श्रद्धा, मैत्री आदि भी व्यर्थ हैं। अपूर्ण "अहम्" की यही दुर्दशा होती है।

इस "अहम्" के दूषित भावने ही अनेक साम्राज्य और राजा महाराजोंका नाश किया है, करता है और भविष्यमें करेगा। दक्षके यज्ञका उदाहरण व्यक्तिगत था, पर समानगततत्वके लिये भी यही बात निश्चित है।

संसारमें बाह्य परोपकारकी प्रवृत्ति बहुत अधिक देखनेमें आती है। संसारके प्राणियोंकी मंगल-कामनासे किसीने दातव्य

औषधालयके निमित्त एक लाख रुपयोंका दान कर दिया है, किसीने देशके कल्याणके निमित्त बड़ा प्रयास किया है। पर यम-राजके खजानची चित्रगुप्त महाशयने जिसकी रकमको जमाखाते न डालकर खर्च खाते डाल दिया है उसकी अवस्था ठीक दक्ष प्रजापतिकी सी है, क्योंकि वह भी 'अहम्' के फेरमें पड़कर भगवानकी श्रेष्ठताको भूलकर समस्त प्राणीमात्रको हीन समझ बैठा है।

प्राचिन इतिहासका मनन करनेसे यही भाव बोधगम्य होता है कि अनेक जातियां अनेक अंशोंमें उच्चतम और परिपूर्ण हो कर भी "अहम् की अपूर्णता"को प्रशंसामें इतनी व्यस्त हो गईं कि अपना सर्वनाश कर डाला। यह देशही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्राचीन रोम और यूनान इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आज भी यूरोपमें इसी "अपूर्ण अहम्" की लीला पूर्णरूपसे चरितार्थ हो रही है। अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है—अमरीका नगरमें अमरीकन जेम्स और निग्रो जातिके जैक जानसनका मल्लयुद्ध हुआ था। इस युद्धमें जैक जानसनने जेम्स जेफ्रिसको हरा दिया था। यह पराजय अमेरीका निवासियोंके लिये असह्य था। नगर नगरमें अमरीकाके निवासी काले हवशियोंपर अनेक तरहके क्रूर अत्याचार करने लग गये थे। न्यू यार्क नगरमें तो उनका एक महल्लाही जला दिया गया था। इसी तरह अन्य अनेक स्थानों पर भी उन्हें इस प्रकारके अत्याचार सहने पड़े थे। पर इससे यह न समझना चाहिये कि हब्शीलोग सर्वथा चुपचाप बैठे रह

अत्याचार सह रहे थे। उन लोगोंने भी कई स्थानोंपर अपनी पूर्ण अमानुषिकताका परिचय दिया। यदि "अपूर्ण अहम्" का यह ताण्डव नृत्य अधिक काल तक इसी प्रकार चलता जाय तो इसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। हमारे देशमें किक्करसिंह और कल्लू मियांकी जो कुश्ती हुई थी उसमें न तो हिन्दूओंने ही किक्करके जय लाभकी कामना की थी और न मुसलमानोंने ही कल्लूके जय लाभकी कामना की थी। परम परमेश्वर चिदानन्दकी प्रेरणासे इस देशके अधिवासीगण 'अपूर्ण अहम्' से मुक्त होगये हैं और यदि उसकी प्रेरणा रही तो इसी प्रकार मुक्त रहेंगे।

(५)

कर्मकेन्द्र

इस जगतमें भगवानका यही विधान है। वह 'अहम्' को सदा हीन और तुच्छ प्रमाणित करता रहता है। विश्वके रहस्यके मार्गको भली भांति जानने वाले महात्मा ईसाने कहा था:—जो अपनेको ऊंचा समझता है प्रभु उसे नीच और जो अपनेको नीच समझता है प्रभु उसे ऊंच बनाते हैं। 'अपूर्ण' 'अहम्' सदा अपनी बड़ाई करनेमें प्रयत्नशील रहता है और यही कारण है कि वह सदा हीन बना रहता है। 'पूर्ण अहम्' समस्त विश्वको उच्च स्थान प्रदान करके केवल आप सबसे नीचे रह गया और यही कारण है कि भगवानने उसे उठाकर सबसे ऊपर बैठा दिया। यही 'पूर्ण अहम्' प्राकृत कर्मकेन्द्र है। जोसेफ म्याटसीनीने इसी 'पूर्ण अहम्' को कर्मकेन्द्रका प्राकृत अधिकारी मानकर कहा था:—

"Ask yourselves, as to every act you commit within the circle of family or country, 'If what I now do were done by and for all men would it be beneficial or injurious to Humanity?' And if your conscience tell you it would be injurious desist, desist even though it seem that an imme-

diate advantage to your country or family would be the result."

प्रत्येक कार्यके आरम्भ करनेके पूर्व, चाहे वह कार्य देशके लाभके लिये हो या अपने वंशके कल्याणार्थ हो, यह निश्चय करलो कि जो कुछ तुम करने जा रहे हो वह यदि समस्त प्राणी द्वारा सबके लिये ही किया जायगा तो उसका फल मानव समाजके लिये लाभदायक होगा या हानिकारक। यदि तुम्हारा विवेक कहता है कि इससे हानि होगी तो ठहर जावो। यदि अब उस कामके करनेसे प्रत्यक्षमें तुम्हारे देश या वंशका कुछ लाभ भी होता हो तो उसे मत करो। महात्मा लामिने (Lamennais) ने कहा था :—

"When each of you, loving all men as brothers, shall reciprocally act like brothers; when each of you seeking his own well-being in the well-being of all, shall identify his own life with the life of all, and his own interest with the interest of all; when each shall be ever ready to sacrifice himself for all the members of the Common Family, equally ready to sacrifice themselves for him; most of the evils which now weigh upon the human race will disappear, as the gathering vapours of the horizon on the rising of the sun; and the will of God

will be fulfilled, for it is His will that love shall gradually unite the scattered members of the Humanity and organize them into a single whole, so that Humanity may be one, even He as is one."

जब तुम लोग परस्पर भ्रातृभावसे प्रेरित होकर एक दूसरेके कल्याणके लिये आचरण करोगे, जब तुममेंसे प्रत्येक मानव जातिके कल्याणमें ही अपने कल्याणकी कामना करेगा, प्राणीमात्रके जीवनको अपना जीवन समझेगा, और अपने स्वार्थको उन्हींके स्वार्थमें मिला देगा, जब प्रत्येकव्यक्ति अपनेको एक महान् परिवारका अंग मानकर अपने जीवनको उस महान् परिवारके लिये उत्सर्ग करनेको तैयार रहेगा और या जब उस महान् परिवारके अन्य लोग भी उसी प्रकार उसके लिये उत्सर्ग करनेको तैयार रहेंगे, उस समय मानव समाजके अन्तर्गत अनेक प्रकारकी बुराईयोंका नाश हो जायगा मानो सूर्यके दिव्य प्रकाशने क्षितिजपर घिरे कुहरेके मंडलका नाश कर दिया है। उस समय ईश्वरकी प्रेरणाओं की पूर्ति होगी क्योंकि उसकी प्रेरणा है कि विच्छिन्न मानव समाज इसी प्रेमकी ग्रन्थिमें बंधकर एकीभूत हो जिससे उसके (ईश्वरके) अनुरूप मानव समाज भी एक हो।"

महात्मा विदुरने भी महाभारतमें इसी 'पूर्ण अहम्' को विस्तारका केन्द्र बनानेको कहा है :—

हितं यत् सर्वभूतानां आत्मनश्च सुखावहम्,
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ।

मनुष्यको वही काम करना चाहिये जो समस्त प्राणियोंका कल्याणकारक हो और करनेवालेको सुख देने वाला हो क्योंकि विधीताके न्यायमें सर्वार्थ सिद्धिका यही मूल तत्व है।

'दार्शनिक चुड़ामणि इमानुअल क्याण्टने भी यही कहा है:—
'मनुष्यको इस भावसे आचरण करना चाहिये जिससे उसके आचरणको विधिविहित बोलकर ग्रहण किया जा सके।'

उपरोक्त दानों उपदेशोंके एकही भाव हैं। तुम्हारा कल्याण इसीमें है कि तुम अपनेको विश्वका अंश मानो। इसलिये सारा विश्व तुम्हारा है और तुम सारे विश्वके हो। संकुचित हृदय होकर तुम जिसको 'अपनत्व' का संबोधन देते हो वह वास्तवमें वैसा नहीं है। बल्कि सारा संसार तुम्हारा है और उसीकी मंगल कामना तुम्हें करनी चाहिये। आओ हम सभी डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुरके सुरमें सुर मिलाकर गावें:—

आमार एकला घेरर आड़ाल भेङ्गे विशाल भेवे,
प्राणेर रथे वाहिर हते पारन कवे।

इस संसारमें तुम्हारे मंगल साधनका अभिप्राय क्या है, केवलमात्र सच्चिदानन्द परमपिताकी प्रतिष्ठाका रूपान्तरमात्र क्योंकि उनकी प्रतिष्ठा हीतुम्हारा लक्ष्य है, उसी लक्ष्यकोतरफ दृष्टि करके कार्य करनेवाली, ज्ञानको प्राप्त करनेवाली, तथा चित्तको प्रसन्न करनेवाली ससामञ्जस्यको अबोधरूपसे अग्रसर होने देना ही कर्मयोग है।

इससे कर्मयोगका अभिप्राय निकला श्री विष्णुके चरण कम-

लोंमें प्रीति उत्पन्न करनेकी कामना अर्थात् जो समस्त संसार-को घेरकर एक हो रहा है उसीके चरण कमलोंमें अनुराग। इस ठांवपर स्वार्थ और परमार्थ एक हो जाते हैं। हमारा और सारे विश्वका उद्देश्य एक हो जाता है। इसी भावको हृदयंगम करके ही रामप्रसादने कहा थाः—

आहार कर मने कर आहुति देइ श्यामा माके।
नगर फिर, मने कर प्रदाक्षिण श्यामा माके॥

जिस समय मैं अन्नका कौर उठाकर मुंहमें रखता हूं उस समय मुझे यही प्रतीत होता है कि मैं मांको आहुती दे रहा हूं और जिस समय मैं नगरोंमें फेरी देता हूं उस समय मुझे यही बोध होता है कि मैं मांकी प्रदक्षिणा कर रहा हूं।

भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कर्मयोगका निम्न लिखित मूलमन्त्र बतलाया हैः—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

'यज्ञ वै विष्णुरिति श्रुतेः। श्रुतियोंने यज्ञ शब्दका अर्थ विष्णु बतलाया है। विष्णुके चरणोंमें प्रीति उत्पन्न करनेके हेतुके अतिरिक्त जो कर्म किया जाता है वह संसारमें प्राणीको बन्धनयुक्त करता है। इसलिये विष्णुको प्रसन्न करनेके लिये कर्म करो। आसक्तका त्याग करो।

श्रीमद्भागवतमें नारद मुनिने व्यासदेवको त्रिताप—

आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक—से मुक्त होनेका निम्न लिखित उपाय बताया है:—

एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सित् ।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ।

अर्थात् हे ब्राह्मण तापत्रयसे मुक्त होनेका केवल मात्र यही उपाय है कि प्रत्येक कर्ममें परमेश्वरके वर्तमान होनेकी भावना करलो। इसपर यह आशंका उठ सकती है कि कर्ममें तो बंधन है और जिसमें बन्धन उसमें फिर मुक्ति कैसे? उसके लिये फिर नारद मुनिने कहा है:—

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम ।

जो वस्तु मनुष्यको दुःख देती है उस वस्तुसे वह रोग नहीं मिट सकता। पर यदि उस वस्तुमें और अनेक वस्तुयें मिला दी जांय तो फिर वह वस्तु उस दुःखको मिटाने योग्य हो जाती है।

एवं नृणांक्रिया योगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ।

इसी प्रकार मनुष्यका आचरित कर्म बन्धनका हेतु होकर भी भगवानके चरणोंमें अर्पित होनेपर वही मुक्तिका हेतु हो जाता है। जो लोग सकाम शुभ कर्म करते हैं:—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना, गतागतं कामकामा लभन्ते ।

वे लोग उन शुभ कर्मोंका शुभ फल विशाल स्वर्गलोकमें प्राप्त करके पुण्य क्षय हो जानेपर फिर मृत्युलोकमें उतरते हैं। इस प्रकार वेदविहित कर्मानुष्ठानमें तत्पर होकर भी कामनाके फेरमें पड़कर बराबर आने और जानेके चक्करमें पड़े रहते हैं।

जब तक पुण्य फलका अवशेष रहता है तबतक तो स्वर्गके असीम आनन्दका उपभोग करते हैं और जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वहांसे गिरकर पुनः मर्त्यलोकमें आजाते हैं। जो लोग 'अपूर्ण अहम्' की सत्ता स्वीकार करके कार्यमें मग्न हो जाते हैं उनके भाग्यमें स्वर्गका यह क्षणिक सुख भी नहीं बदा रहता। जो लोग इस'अपूर्ण अहम्' की मायामें फंस जाते हैं उन्हें उस घोर शुभ कर्मके फलकी प्राप्तिकी आशा नहीं रहती। संसारके मनुष्योंकी आंखोंमें धूल झोंककर कुछ दिन तक अपना काम भले-ही चला लें, पर ईश्वरकी आखोंमें कौन धूल झोंक सकता है। इन दोनोंमें ही हानि है। पर 'अपूर्ण अहम्' की भक्तिमें तो अधिकतर हानि है क्योंकि सकाम कर्म तो केवलमात्र भगवानके चरणोंमें प्रार्थना करनेकी प्रेरणा करता है पर 'अपूर्ण अहम्' तो मनुष्यको एकदम अन्धा बना देता है और मनुष्यको ईश्वरके बराबर बन बैठनेके लिये प्रेरित करता है।

निष्काम कर्म---प्रेमके मार्ग में

निष्काम कर्म ही सात्विक कर्म है। भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें कहा है:—

नियतं संगरहितम रागद्वेषतः कृतम्।
अफल प्रेपसुना कर्म यत्तत् सात्विकमुच्यते॥

अर्थात् जो कर्म विहित विधिके अनुसार आशाविहीन, राग-द्वेशशून्य तथा फलाफलसे अपेक्षित होकर किया जाता है उसे ही सात्विक कर्म कहते हैं। और

असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

जो मनुष्य आसक्ति रहित होकर काम करता है वही परमपदको प्राप्त हो सकता है।

यदि अनवरत रूपसे सदा निष्काम कर्मका आचरण नहीं किया जा सकता तो जितना संम्भव है उतना ही करना चाहिये क्योंकि उतना भी इस संसार चक्रमेंसे प्राणीकी रक्षा कर सकता है।

इसके अनुसार भगवान श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रमें अर्जुनसे निष्काम भावसे युद्ध करनेके लिये कहा था:—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवंम् पापमवप्स्यसि॥

सुख दुःख, हानिलाभ, जयपराजयके विषयमें उदासीन भाव

ग्रहण करके युद्ध करनेके लिये तैयार हो जावो। इस तरह तुम पापके भागी नहीं हो सकते। इस प्रकारकी बुद्धि हो जानेपर 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' कर्म बन्धन छूट जायगा और यही निष्काम कर्मका सच्चा स्वरूप है। और

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका नाश नहीं है, इसमें किसी तरहकी असफलताकी सम्भावना नहीं, इसमें किसी तरहके हानिकी भी सम्भावना नहीं रहती। यदि इस निष्काम कर्मका थोड़ा भी आचरण हो जाय तो यह बड़े भारी भयसे रक्षा करनेमें समर्थ होता है।

कुछ लोगोंका कथन है कि निष्काम कर्ममें प्रेरणाकी शक्ति नहीं है। फल प्राप्तिकी इच्छासे, इष्ट साधनकी आशासे मनुष्य जिस तरह काम करनेके लिये उद्यत होसकता है वह बात निष्काम कर्ममें कहांसे आसकती है। पर इस तरहकी शंकाका निवारण सहजमें ही हो सकता है। कभी कभी यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मनुष्य अपना काम करनेमें उतनी तत्परता नहीं दिखाता जितना दूसरोंके लिये दत्तचित्त और सयत्न रहता है। प्रेमियोंमें तो यह बात और भी प्रत्यक्षरूपसे दिखाई देती है। जिससे हम प्रेम करते हैं उसके सुख साधनके सामने अपने सुख साधनको हम तुच्छ समझते हैं। प्रेमपात्रके लिये प्राणोंको भी गंवा देना अति सहज प्रतीत होता है। पिपियासके निमित्त डेमन किस प्रसन्नता तथा उत्साहके साथ

अपने प्राणोंको देनेके लिये तैयार हो गया था। जिस समय हत्यारोंने नारायणराव पेशवापर सशस्त्र आक्रमण किया था उस समय प्रभुभक्त दास चाफाजी टिलेकरने विना अस्त्र शस्त्रके होकर भी किस प्रकार अपने शरीरसे प्रभुके शरीरको ढक लिया था और पाषाणकी तरह अटल पड़ा शस्त्रोंके आघातको सहते सहते प्राण त्याग किया था। परम प्रिय और पूजनीय प्राणोंको इस प्रकार इतने सहजमें त्याग देनेकी प्रेरणा कहांसे आती है। यह प्रमाण तो बड़े बड़े उदारहृदय महानुभावोंके दिये गये हैं। पर साधारण मनुष्योंमें भी यह बात देखनेमें आती है कि हम जिसे प्यार करते हैं उसको सुखी करनेके लिये यदि हमें थोड़ा कष्ट भी उठाना पड़ता है तो हम उसे सानन्द बरदाश्त कर लेते हैं। एक समयकी बात है कि दो थके मांदे बटोही एक ही स्थानपर आ जुटे। पर वह स्थान दोके रहने योग्य नहीं था। ऐसी अवस्थामें क्या भाव उदय होते हैं। क्या एकको सोनेके लिये पर्याप्त स्थान देकर दूसरा रात भर ऊंघता ऊंघता काटकर भी आनन्द प्राप्त नहीं करता। इस भावकी मात्रा अत्याधिक बढ़ जाती है इसी लिये प्रेमीके लिये प्राण त्याग करना अति सहज और आनन्दप्रद प्रतीत होता है। किसी व्यक्ति विशेषके प्रति प्रेम बन्धनमें बंध जानेसे यदि उसके सुख या मंगल कामनाकी निष्काम प्रेरणाकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है तो यदि किसी व्यक्ति विशेषका इसी प्रकारका अनुराग या प्रेम किसी धर्म या सम्प्रदाय, देश अथवा जातिसे हो जाय तो क्या वह व्यक्ति उस धर्म सम्प्रदाय, देश अथवा जातिको

मंगल कामनासे प्रेरित होकर अपने सम्पूर्ण सुख साधनों और आनन्दकी सामग्रियोंको तिलाञ्जलि देकर उनका त्याग नहीं कर देगा? इस प्रकारके अनेक महात्माओंके जीवनचरित हमलोगों के सामने है जिन्होंने धर्मके लिये अथवा स्वदेशके लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया है।*

धर्मके लिये, देशके लिये निष्काम कर्मयोगमें प्रवृत्त होने वालों का उदाहरण इस देशमें हजारों और लाखों मिलेंगे। राजपूत रमणी पन्नाका उदाहरण कितना रोमाञ्चकारी है। राजकुमार उदयसिंहके प्राणोंकी रक्षा बनवीरके हाथोंसे करनेके लिये उनकी धाई पन्नाने उनके स्थानपर अपने प्राणसे भी प्यारे पुत्रको सुला दिया और बनवीरद्वारा तेज छुरीकी धारसे खण्ड खण्ड होते अपनी आंखों देखा। रूस-जापान-युद्धके समय एक समाचार निकाला था:—एक रूसी, वहानसान नाम्नी एक जापानी रमणीके साथ विवाह करके याकोहामा नगरमें रहता था। रूसी अपनी स्त्रीसे कोई भेद नहीं रखता था, केवल एक छोटीसी सन्दूक उससे छिपाकर रखता था। किसी तरह भी उस सन्दूकको वह उसे नहीं देखने देता था। स्त्रीको इस बातका सन्देह हुआ कि उसका पति रूसका गुप्तचर है और जापान राज्यकी भेदभरी बातें संग्रह करके इसी सन्दूकमें छिपाकर रखता है। प्रियतम पतिके प्रेमकी अपेक्षा प्रिय स्वदेशका प्रेम उसके हृदयमें अधिक

---

* बीसवीं सदीका सबसे बड़ा त्यागी वीर महात्मा गांधी हैं और उसके बाद लाला लाजपतराय, देशबंधु दास और पण्डित मोतीलाल नेहरूका नम्बर आता है।

वेगसे उमंग मारने लगा। निदान एक दिन उसने अपने पतिको शराब पिलाकर मतवाला बना दिया और उस सन्दूकके सम्पूर्ण कागज पत्रोंको लेकर पुलिसके सन्मुख उपस्थित हुई। नशा उतरते ही उसने सन्दूकको तलाश किया। उसे न पाकर वह समझ गया कि उसकी स्त्रीने क्या कारवाई की है। वह उसी दम उठा और जापान छोड़कर भाग गया। किस भावसे प्रेरित हकर उस जापानी रमणीने अपने परम आनन्दमय गार्हस्थ्य जीवनको इस प्रकार अगाध सागरके बीचमें निमग्न कर दिया और फिर भी सुख तथा शान्तिका अनुभव किया। अनेक जापानी रमणियोंने तो यहांतक किया कि जब उन्होंने देखा कि उनके पति केवल मात्र इसलिये युद्धमें नहीं जाते हैं कि उन (रमणी) लोगोंका भरणपोषण करनेवाला कोई नहीं रह जाता तो उन्होंने अपने २ पतियोंका साथ त्याग दिया और इस तरह युद्धमें जानेके लिये उनका मार्ग साफ और कंटकरहित कर दिया। एक जापानी रमणीकी कहानी और भी रोमाञ्चकारी है, एकमात्र पुत्र उसका अवलम्ब था। उसने देखा कि जब तक वह जीती है पुत्र युद्धमें भाग न लेनेके लिये बाध्य रहेगा। निदान उसने एक धारदार छुरा लेकर अपनी छातीमें भोंक दिया और रक्तरञ्जित उसी छुरेको अपने पुत्रके हाथमें रखकर उसने उसे युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिये शुभ आशीर्वाद दिया और आप परम आनन्दपूर्वक परम धामका मार्ग लिया। यह उत्तेजना उसे कहांसे मिली थी?

जिन लोगोंका हृदय और भी उदार हो गया है, जिनके प्रेमका

विस्तार और भी दूरतक फैल गया है वे लोग इस संसारके कल्याणके लिये भगवानके विधिकी प्रतिष्ठाकी कामनासे किसो जाति या देशका ख्याल न कर रोग, शोक तथा सन्तापका अपहरण करनेके लिये उनके हृदयमें न जाने कौनसी प्रेरक शक्ति आ उपस्थित होती है कि वे खुशी खुशी प्राण त्याग करते हैं। फादर डेमियन इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इसी तरह संसारके मंगलकी कामनासे फ्रांसनिवासो मार्क्विस लाफायत् अमरीका वासियोंके पराधीनताकी शृङ्खलकी जड़ काटनेके लिये उन्मत्त हो उठा था। भला एक फ्रांसनिवासीको अमरीकासे क्या सहानुभूति थी ? पर उसकी आत्मा निश्चिन्त नहीं रह सको। जिस समय अमरीकाने स्वतंत्रताकी घोषणा करके इङ्गलैण्डके साथ युद्ध ठान दिया था उस समय इस वीरकी अवस्था केवल १६ वर्ष की थी। इस युद्धका समाचार सुनते ही वह अमरीकाके पक्षमें युद्ध करनेके लिये दृढ़संकल्प हो गया। उसने काउण्ट डी ब्रेलिसे सलाह ली। उन्होंने कहाः—'मैंने तुम्हारे पिताको मिण्डेनके युद्धमें और चचाको इटालीके युद्धमें सहर्ष प्राण त्यागते अपनी आंखों देखा है। उनके वंशके एकमात्र तुम्हीं आधार रह गये हो उसके मूलोच्छेदनकी मैं राय नहीं दे सकता।' पर लाफायेत्को इससे सन्तोष न हुआ। वह अपने दृढ़संकल्पसे च्युत न हो सका। इसी बीचमें अमरीकावालोंकी घोर पराजयका दुःखपूर्ण समाचार मिला। दूसरे ही दिन उन लोगोंके न्यूयार्क त्यागका संवाद मिला। इस समाचारसे भी वह अधीर नहीं हुआ।

उसके हृदयमें विश्वजनित जो प्रेम भाव था वह और भी वेगसे बहने लगा। अमरीकामें रहनेवाले फ्रांसके प्रतिनिधि फ्रैंकलिन और ली आदिने भी उसे अमरीका जानेसे रोकना चाहा। स्वयं फ्रांसके राजाने उसे लौटाना चाहा। पर वह किसी भी तरहसे न रुका। अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको सहता वह अमरीका पहुंचा और रणमें योग देकर उसने अनेक संग्रामोंमें अपनी वीरता धीरता और उदार तथा विशाल हृदयताका परिचय दिया। फ्रांसकी राज्यक्रान्तिमें योगदान करके उसने यश कमाया था उसके प्रति अमरीकाका पक्ष लेकर युद्ध-भूमिमें जाना सहस्रगुणा अधिक और बढ़कर था। स्पेनदेशमें नियमतंत्रशासन प्रणाली की स्थापनाका समाचार पाकर राजा राममोहनरायने हर्षो-फुल्ल होकर आनन्दोत्सव मनाया था, क्योंकि उनके विशाल हृदयमें संसारके कल्याणक भाव भरा था। नहीं तो स्पेन और भारतसे क्या सम्बन्ध ! जिस समय आप इङ्गलैण्ड जा रहे थे नेटालके बन्दरगाहमें १८३० की क्रान्तिके बाद एक फ्रांसीसी जहाजपर स्वाधीनताका पताका फहराते देखकर आनन्दके मारे उछल पड़े और उसको सप्रेम अभिवादन करनेके लिये आगे बढ़े और ठोकरसे सख्त चोट खायी। स्वनामधन्य हर्बर्ट स्पेन्सर इसी सार्वभौमिक प्रेमके प्रतापसे सीधे स्वर्ग सिधारे। उन्होंने जापानवासी वैरन केनिकोरको निम्नलिखित पत्र लिखा था:—

आपने हमारे पास अनेक प्रश्न लिख भेजे हैं। उनका

उत्तर मैं साधारण तरहसे दे देता हूं। मेरी समझमें जापानके राजनीतिक कल्याणके लिये यह श्रेयस्कर होगा कि अमरीकामें यथासंभव यूरोपके लोग न घुसने पावें। अधिकतर शक्ति सम्पन्न जातियोंके बीचमें आप लोगोंका निवास सदा आपद्ग्रस्त होगा इसलिये विदेशियोंको अपने निकट स्थानोंमें रहने के लिये केवल स्थान देनेसे ही काम नहीं चल जायगा। बल्कि सदा इस बातके लिये सतर्क होना पड़ेगा कि उन्हें स्थान न मिले। प्राकृतिक,शारीरिक तथा मानसिक शक्तिके प्रयोगसे जिन वस्तुओं-की उत्पत्ति होती है उनके आयात नियात तथा विनिमयके निमि-त्त अन्य देशोंके साथ संसर्ग रखनेके हेतु जितने नियम उपकारी हों उनका निर्माण करना आवश्यक है। इस उद्देश्यसे किसी भी अन्य विशेषकर बलिष्ठ जातिको आवश्यकतासे अधिक अधिकार दे देना कदापि उपकारी नहीं है। यूरोप और अमरीका-को राजशक्तिके साथ आपकी वर्तमान शक्तिकी तुलना करनेसे हमें प्रतीत होता है कि आप लोगोंने विदेशियोंके धनोपार्जनके लिये अपने साम्राज्यका द्वार मुक्त कर दिया है। हमें आशंका है कि ऐसी नीतिसे आपको अनेक तरहके कष्टोंकी सम्भावना हो सकती है, इस विचारसे मेरा चित्त अतिशय विह्वल है। यदि कोई राष्ट्र किसी बलिष्ठ शक्तिको एक बार भी आश्रय दे दिया तो वह बलिष्ठ राष्ट्र उसकी सत्ताको हड़प जानेकी ही चेष्टा करेगा। इस बातका आविर्भाव होते ही संघर्ष उपस्थित हो जायगा। परिणाम यह होगा कि विरोधी शक्ति यह प्रसिद्ध

करेगा कि जापानवालोंने ही पहले आतङ्क उपस्थित किया है। निदान इसका प्रतिशोध करना आवश्यकीय है। परिणाम यह होगा कि देशके कुछ अंशपर वे आक्रमण कर देंगे और उस भूमि-भागको उनके लिये स्वतंत्र कर देना पड़ेगा। इस प्रकार धीरे धीरे सारा जापान पराजित होकर विदेशियोंके हाथमें आजायगा। प्रत्येक अवस्थामें यह भवितव्य अनिवार्य हो जायगा और यदि आपलोगोंने उपरोक्त अधिकारोंके अतिरिक्त अधिकार भी विदेशियोंको दे दिया तो यह अवस्था और भी सहज हो जायगी।"

जिस महापुरुषके ये वचन हैं वह वास्तवमें विश्वव्यापी प्रेमका खजाना था।

सार्वजनिक हितसे प्रेरित होकर काम करनेको ही निष्काम कर्म या श्रीविष्णुपादप्रेरित कर्म कहते हैं। पर व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत अथवा स्वदेशके स्वार्थसे प्रेरित होकर किया हुआ कर्म विष्णुपदसे प्रेरित अर्थात् निष्काम कर्म हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। यदि यह काम भगवानके नियमोंके प्रतिकूल अथवा विरोधी है तो वह निष्काम कैसे हो सकता है। मान लो कि अपने सम्प्रदाय-विशेष या जाति-विशेषकी वृद्धिसे प्रेरित होकर तुमने अन्य सम्प्रदाय या जातिको किसी तरह भी हानि पहुंचायी तो क्या उससे भगवान कभी भी प्रसन्न हो सकते हैं? क्योंकि नारायणकी दृष्टिमें सारा विश्व एक है।

सब भूमि है गोपालकी इसमें अटक कहां?
जिसके मनमें अटक है वही अटक रहा।

साधनके ख्यालसे यह आचरण धर्मयुक्त है : क्योंकि आत्मरक्षा केवल संगत ही नहीं है बल्कि वह एक तरहका कर्त्तव्य भी है। इसके बाद कल्पना कीजिये कि हमने किसी अन्य देशपर आक्रमण किया है। दूसरेके देशको दखल कर लिया है। अथवा किसी जातिको किसी वस्तुको लेनेकी इच्छा नहीं है, पर हमने अपने शस्त्रके बलसे उसे वह वस्तु लेनेको बाध्य किया है। अथवा हमारे देशका कोई अधिकारी उनके विरुद्ध शासन-दण्ड चलानेको मन्त्रणा देता है और उसके अनुसार हम अन्याय शासनमें प्रवृत्त हुए। स्मरण कीजिये कि क्या किसी जातिने आजतक किसी अन्य जातिके साथ इस तरह अन्याय आचरण करके उसे दोषपूर्ण स्वीकार किया है। उस समय इस स्वदेशहितसाधनके स्वार्थसे क्या ध्वनि निकलती है? जिन लोगोंको हम सता रहे हैं वह तो धर्मपथपर हैं और हम लोग अधर्मपथपर हैं। यहांपर स्वदेशहितसाधनकी अभिलाषासे यही ध्वनि निकलती है कि हम लोग धर्मको किनारे रखकर अधर्मको पुष्ट करना चाहते हैं। यही शैतानकी इच्छा है और हम उसके वशीभूत हो गये हैं। कई वर्षकी बात है कि एक समय मैंने इसी भावको ऐसे शब्दोंमें प्रकाशित किया था कि इसे पढ़कर लोग आश्चर्य करेंगे और हमें अवश्यही स्वदेशद्रोही कहेंगे। जिस समय अपने क्षत स्वत्वोंकी रक्षाके बहाने ब्रिटिश सरकारने द्वितीय बार अफगानिस्तानपर चढ़ाई की थी उस समय हमारे सैनिकोंकी घोर क्षतिका समाचार सम्बादपत्रोंमें निकला। उस

समय हमलोग अथेनियम क्लबमें बैठे थे। हम लोगोंके साथ एक सैनिक अध्यक्ष भी थे। उन्होंने उस प्रसंगकी चर्चा छेड़ दी। बातोंहीमें मैंने उनसे कहा:—जो मनुष्य धर्म अधर्म, न्याय अन्यायकी परवा न कर केवल वेतनके लिये नरवध करनेपर उतारू हो जाता है उसको मृत्युसे हमें लेशमात्र भी दुःख नहीं होता। मेरे इस उत्तरको सुनकर वे अवाक् रह गये।"

"इसके उत्तरमें जो शोर गुल मचेगा उसे मैं जानता हूं। कोई कहेगा:—यदि यह मत मान लिया जाय तो सेनाका संगठन और राज्यका शासन असम्भव हो जाय। किस भावसे प्रेरित होकर अमुक सैनिक युद्धके लिये प्रवृत्त हो रहा है—इस तरहका निर्णय करनेपर तो एक क्षण भी काम नहीं चल सकता। सांग्रामिक दुर्बलता आजायगी और जो हो चाहेगा हमपर हमला करके हमारा देश छीन लेगा। पर यह चिन्ता अकारण है। युद्धके समयमें देश-रक्षाके निमित्त जिस तरह आज सैनिक प्रचुर संख्यामें पाये जाते हैं उसी तरह उस दिन भी पाये जायंगे। देशरक्षाके लिये युद्ध करना प्रत्येक सैनिक अपना कर्तव्य समझेगा और उसके लिये खुशी खुशी प्राण देगा। उस समय युद्धका एकमात्र अभिप्राय आत्मरक्षा रह जायगा। दूसरे देशोंपर आक्रमण करनेके निमित्त युद्ध होगा ही नहीं।"

"यह कहना असंगत नहीं समझा जा सकता कि आक्रमणके लिये युद्ध उठ जानेपर फिर रक्षार्थ युद्ध भी उठ ही जायगा। हां, आवश्यकता केवल इस बातकी घोषणाकी है कि भविष्यमें रक्षार्थ

युद्धके अतिरिक्त आक्रमणके हेतु युद्ध नहीं किया जायगा ।"

"किन्तु जिन्हें 'हमारा देश' 'हमारा देश' यह चिन्ता सर्वतो रूपसे व्याप रही है उन्हें धर्म और अधर्मकी चिन्ता कहां ? जिनके भावमें इस प्रकारकी ध्वनि उठती है और जो यह सोचते हैं कि आजतक तो हमने साम्राज्यका उपभोग किया है तो फिर भविष्यमें हम इससे क्यों वञ्चित रहें, वे लोग इस सांग्रामिक संयमके विधानको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखेंगे । उन लोगोंकी दृष्टिमें रविवारके दिन गिर्जेमें दी हुई धर्म दीक्षाके अनुसार सोमवारको आचरण करना नितान्त मूर्खता और बेवकूफी है ।"

जो लोग राज्यसुखभोगकी कामनासे सनातन धर्मको भूल जाते हैं उन्हें परमेश्वर भलीभांति दिखाता है कि जो जाति स्वदेशप्रेम और विश्वप्रेमको परस्पर विरोधी मानती है उसका कल्याण नहीं है क्योंकि वह अपने पैरोंमें आप कुल्हाड़ी मार रही है ।

जिन्होंने ईशचरणोंमें नेह लगाया है उन्होंने तो संसार भरको अपना समझ लिया है । उनकी दृष्टिमें संसारके हितके सिवा और कोई बात आही नहीं सकती । भगवानका भक्त समदर्शी होता है । वह सबसे समान प्रेम करता है, चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा । भगवद्गीतामें भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनसे कहा है:—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

अर्थात् जो ब्राह्मण विद्या और विनययुक्त है उसे, गो, हाथी, कुत्ते, कुत्तेको खानेवाले चाण्डाल तकको विद्वानलोग बराबर दृष्टिसे देखते हैं। यही आन्तरिक तत्व है "यत्र जीवस्तत्र शिवः।" अर्थात् प्रत्येक जीवमें स्वयं आनन्दस्वरूप भगवान विराजमान हैं। युधिष्ठिरके विश्वव्यापी प्रेममें कुत्तेका उदाहरण अभी गया जाता है। मनुष्यके प्रेममें इतर जीवोंका तथा उद्भिज पदार्थोंका क्या स्थान है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण दैनिक पञ्चयज्ञोंमें वर्तमान है।

लाफकेडि हार्नने अपनी "अनफेमीलियर जापान" नामी पुस्तकमें लिखा है:—मनुष्य देवताके निकट सदा इस बातकी प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर! हमारे पालित जीव किसी प्रकारका कष्ट न पावें और सुखी रहें। टोकियोके एकोइन मन्दिरमें पशुओंके स्मृति-चिन्ह रखे हैं और उनकी मंगलकामनाके लिये प्रतिदिन प्रार्थना की जाती है।

हम लोगोंकी तर्पण और पिण्डदानकी व्यवस्था भी विश्वजनीन प्रेमका स्वरूप है। तर्पण और पिण्डदानके मन्त्रोंमें स्पष्ट लिखा है:—

देवता, यक्ष, नाग, गन्धर्व, अप्सरा, असुर सर्प, गरुडजातीय पक्षी, वृक्ष, टेढे चलनेवाले जानवर, विद्याधर, जलचर, खेचर, (उडनेवाले पक्षी) निराहार, पापी, धार्मिक आदि सबकी तृप्तिके लिये मैं यह जलदान करता हूं और सबको पिण्डदान करता हूं।

इसी प्रकार जैन धर्मावलम्बियोंमें पशुओंकी रक्षा तथा वृद्ध, निरुपाय पशुओंके पालनके लिये पिञ्जरापोल आदिकी जो व्यवस्था की जाती है उसका स्मरण करके हृदय गद्गद् हो जाता है। इस प्रकारके सार्वभौमिक प्रेममें क्या आनन्द है! कालरिजने सत्यही कहा है:—

> "He prayeth best who loveth best
> All things both great and small:
> For the dear God who loveth us,
> He made and loveth——all."

भगवानका वही सबसे प्यारा भक्त है जो छोटी बड़ी सभी वस्तुओंपर समान दृष्टि रखता है। क्योंकि इन सभी वस्तुओंका निर्माण उसी समदर्शी महाप्रभुने किया है जो हमें प्यार करता है और उसी तरह उन्हें भी प्यार करता है। इसी प्रसंगको लेकर भागवतमें लिखा है:—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

जो मनुष्य समस्त प्राणियोंमें भगवानकी ही छाया देखता है और समस्त प्राणियोंको ईश्वरका अंशस्वरूप मानता है वही भगवानका परम भक्त है।

निष्काम कर्म—ज्ञान जनित

इस परिच्छेदमें हम यह दिखानेकी चेष्टा करेंगे कि ज्ञानी मनुष्यका कर्मकेन्द्र क्या है और उसे किस द्वारसे प्रेरणा मिलती है।

सबसे पहले तो ज्ञानके द्वाराही हमें यह भासता है कि मैं और समस्त विश्व एकही शक्तिके भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा भी है :—

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

अर्थात् मैं प्रत्येक प्राणीमें अविभक्त अर्थात् एक होकर अधिष्ठित हूं, पर बाहरसे देखनेमें भेद प्रतीत होता है और सब भिन्न भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं।

अध्यात्मविज्ञानमें इसी तत्वकी आलोचना की गई है। प्रकृतिविज्ञानमें भी इसी तत्वका उद्घाटन होता है। यदि यह बात ठीक है तो फिर 'अहम्' क्या रहा। 'अहम्' उसी विश्वमें परिणत हो गया। योगवाशिष्ठमें महर्षि वशिष्ठने ज्ञानभूमिका सोपान प्रदर्शित किया है :—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥
सत्तापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थभावनी षष्ठी सप्तमी तूर्यगा गतिः॥

शुभेच्छा प्रथम ज्ञानभूमि, विचारणा द्वितीय ज्ञानभूमि, तनु-

मानसा तृतीय, सत्तापत्ति चतुर्थ, असंसक्ति पञ्चम, पदार्थभावना षष्ठ, तूर्यगा-गति सप्तम। इसके बाद इन सातों ज्ञानभूमियोंकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

शुभेच्छा—मनुष्यके चित्तमें इस भावका आना कि मैं क्यों मूढ़ होकर बैठा हूं, मैं वैराग्य धारण करके शास्त्रोंकी आलोचना क्यों न करूं और संतोंकी संगतिसे ज्ञानोपार्जन क्यों न करूं, इसी भावको शुभेच्छा ज्ञानभूमि कहते हैं।

विचारणा—शक्तियोंके मननसे तथा संतोंकी संगतिसे, धर्माधर्म, सत्यासत्य, स्थायी अस्थायी, आत्मा अनात्मा, कर्तव्य अकर्तव्य, बन्धन मोक्ष आदिकी विवेचनाके जो सदाचारिक विचारोंकी तरंगे मनमें उठती हैं उसीको विचारणा ज्ञानभूमि कहते हैं।

तनुमानसा—सबसे प्रथम शुभेच्छाका जन्म हुआ। उसके बाद विचारणा शक्तिद्वारा इन्द्रियादिकोंके भोगके विषयकी तुच्छताका ज्ञान उत्पन्न होकर उनकी ओरसे चित्तमें जो उदासीनता उत्पन्न होती है उसीका नाम तनुमानसा ज्ञानभूमि है। तनुमानसा अवस्थाको प्राप्त हो जानेपर चित्तकी प्रवृत्ति फिर विषयवासनाकी ओर नहीं दौड़ती। मनकी स्थूलता मिट जाती है और सूक्ष्मत्वकी प्राप्ति होती है।

सत्तापत्ति—शुभेच्छा, विचारणा, तथा तनुमानसा इन तीनों ज्ञानभूमियोंको प्राप्त होकर हर तरहके प्रलोभनसे जिस समय मुक्त होकर मन विरक्त होकर आत्मामें स्थिर हो जाता है उसी अवस्थाको सत्तापत्ति ज्ञानभूमि कहते हैं।

असंसक्ति—उपरोक्त चारों तत्वोंका अभ्यास कर लेनेपर जिस विलक्षण सात्विक भावका उदय होता है, जिसके द्वारा विषयासक्ति सम्पूर्णतया उच्छिन्न हो जाती है, उसीको असंसक्ति ज्ञानभूमि कहते हैं।

पदार्थभावना—उपरोक्त पांचों तत्वोंके अभ्याससे मनुष्य ब्रह्ममें लीन हो जाता है और तब बाह्य और अन्तरंगकी चिन्ता मिट जाती है। उस समय सयत्न प्रकृत आत्मतत्वकी चिन्ता उपस्थित होती है उसीका नाम पदार्थभावना ज्ञानभूमि है।

तूर्यगा-गति—उपरोक्त छहों तत्वोंका अभ्यास करनेसे आत्माका भेदभाव मिट जाता है और आत्मामें ब्रह्ममें समता दीखने लगती है। उसी अवस्थाको तूर्यगा-गति ज्ञानभूमि कहते हैं।

इस व्याख्याके बाद वशिष्ठ मुनिने कहा है:—

ये हि राम महाभागाः सप्तमीभूमिमागताः।
आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः॥

हे रामचन्द्र! जो महात्मा ज्ञानभूमिकी इस सातवीं अवस्था तक पहुंच जाते हैं वे आत्माराम होकर साक्षात् परमपदको प्राप्त होते हैं।

"भेदस्यानुपलम्भतः" अर्थात् किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है, इस भावके उदयको ही तूर्यगा-गति कहते हैं। इस अवस्थामें पहुंचनेपर सबमें एकता देखनेमें आती है। अपने और परायेका भेदभाव न जाने कहां चला जाता है। सात्विक ज्ञानकी

उत्पत्ति होनेसे ही भेदभाव मिट जाता है। इसी प्रसंगको लेकर भगवान श्रीकृष्णने गीतामें कहा है:—

सर्वभूतेषु येनैकम् भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥

जिस ज्ञानकी प्राप्तिसे संसारके सभी प्राणियोंमें एकताका बोध तथा ज्ञान होता है, दुनियांकी सारी विभक्त वस्तुओंमें एकताका ज्ञान प्राप्त होता है उसी ज्ञानको सात्विक ज्ञान कहते हैं।

एक अविभक्त सत्ता, एक अव्यय वस्तु, सुतरां एक सर्वव्यापी विष्णुसे भिन्न हम, तुम आदि भिन्न भिन्न तुच्छ पदार्थ अब दृष्टिपथमें आतेही नहीं। ज्ञानके इस ऊंचे चबूतरेपर चढ़ जानेपर प्रतीत होगा कि हमारे हृदयसे सारी कामवासनाएं उठ गई हैं और हमारे हृदयमें किसी प्रकारकी संकीर्ण इच्छाओंकी वासना नहीं रह गई है।

इस अवस्थामें पहुंचनेपर योगवाशिष्ठके अनुसार जीवन्मुक्त अर्थात् तूर्यगा-गतिप्राप्त महात्मागण सुख-दुःखसे दूर हो जाते हैं और कार्याकार्यकी और निजी किसी तरहकी प्रवृत्ति भी नहीं रह जाती। किन्तु लोक तथा समाजके प्रति जो कर्तव्य है उसे नहीं भूलते और सुप्रबुद्ध मनुष्यकी भांति समाजमें प्रचलित आचार विचारका पालन करते हैं, पर आसक्तियोंके चक्करमें नहीं पड़ते। जिस तरह प्रगाढ़ निद्रामें सोये हुए मनुष्यको सुन्दरसे सुन्दर स्त्री अपने रूपसौंदर्यसे मोहित नहीं कर सकती उसी प्रकार संसारकी

क्रियाएं उन्हें किसी तरह अपने वशमें नहीं कर सकतीं। क्योंकि वे आत्माराम पदको पहुंच गये हैं, वे आत्माकी लीलामें रत हैं। बाह्य इन्द्रियोंका सुख उनके लिये किसी तरहका प्रलोभन नहीं उपस्थित कर सकता।

वशिष्ठने "पार्श्वस्थबोधिताः" कहकर जिस बातकी भावना की थी उसीको भगवान श्रीकृष्णने 'चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्' से प्रगट किया था। भगवान श्रीकृष्णने कहा था:—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार मूढ़ जन विषयोंके वशीभूत होकर कर्म करते हैं उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्योंको भी विषयवासनामें न पड़कर संसारके कल्याणके लिये कर्म करना चाहिये।

भगवान श्रीकृष्णके मतानुसार ज्ञानी जनोंकी प्रेरणाका कारण है संसारके कल्याणकी कामना और महर्षि वशिष्ठके मतके अनुसार पार्श्वस्थबोधन है। ज्ञानी जन उसी कामको करते हैं जिस कामको लोककी रक्षाके हेतु लोकपालादि करते हैं। उनको अपने लिये कोई भी ईप्सित पदार्थ नहीं है। उनकी कर्ममें प्रवृत्ति केवल संसारके कल्याणके हेतुसे होती है अथवा इस संसारमें महाप्रभु सच्चिदानन्दकी प्रतिष्ठा करानेके हेतुसे।

भक्त तथा ज्ञानी पुरुषका एक ही कर्मकेन्द्र है क्योंकि जिस समय 'अहम्' का भाव उठ जाता है और समस्त विश्वका भाव उसका स्थान ग्रहण कर लेता है उस समय ज्ञानी मनुष्यका कर्म-केन्द्र विश्व हो जाता है।

लोकसंग्रह

व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत, समाजगत, जातिगत, राष्ट्रगत उन्नतिके लिये जो लोग आवश्यक प्रयत्न करते हैं उन सबका एकही कर्मकेन्द्र है, कारण कि सबका मूल एकही है केवल भिन्न भिन्न कर्म-केंद्र शाखाके रूपमें हैं। भगवानने कहा भी है—"एकोऽहं बहु स्याम्" अर्थात् मैं एक होकर भी अनेक रूप धारण करता हूं। जिनकी चेष्टाएं व्यक्तिगत होती हैं वे भी इस भावके अन्तर्गत इसी बहुत्व-के भावका प्रतिपादन करते हैं क्योंकि एक भी ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है जिसकी आकृति और प्रकृति किसी दूसरे व्यक्ति-की आकृति और प्रकृतिसे मिलती जुलती हो। जुडुवे भाइयोंकी आकृति यद्यपि एक देखनेमें आती है तथापि उनकी प्रकृतिमें भी वही समानता अभीतक दृष्टिगोचर नहीं होती है। लीला-मय श्रीभगवानकी लीलाकी भित्ति विचित्र और विषम है। वे इस तरहकी विषमता जानबूझकर रखते हैं, नहीं तो उनकी लीला ही न चले। यही कारण है कि स्वभावजनित गुण और बहिर्गत तथा आन्तरिक भेदभावके कारण व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत, जातिगत तथा राष्ट्रगत विचित्रता तथा विषमताकी सीमा नहीं है। पर इन विविध विचित्रताओं और विषमताओंके बीचमें भी एक तरहकी समता या एकत्व है। यह होना भी ठीक या स्वा-भाविक ही है क्योंकि जो इतने विविध रूपोंमें प्रगट होता है वह है तो अद्वितीय। प्राकृतिक धर्म, शिक्षा, दीक्षा, आकास, वायु, जल,

स्थानीय अनेक प्रकारके दृश्य, स्पृश्य, खाद्यादिके प्रभावसे भिन्न२ देशोंमें, भिन्न२ जातियोंमें, भिन्न२ समाजोंमें तथा भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें उसकी शक्ति भिन्न भिन्न प्रकारसे काम कर रही है और उसीके अनुसार लोगोंके आचार, विचार, स्वभाव, संस्थिति, शील, व्यवहार, रीति, नीतिमें विभिन्नता देखनेमें आती है। पर फिर भी उन सब विभिन्नताओंमें एक प्रकारकी एकता है क्योंकि सबकी चेष्टा उसी सच्चिदानन्दकी प्रतिष्ठा है। जिस तरह भिन्न भिन्न प्रकारके बाजे (जैसे, हारमोनियम, तबला, मजीरा, सितार) एक साथ मिलकर एकही प्रकारकी संगीतध्वनि निकालनेके लिये तत्पर रहते हैं उसी प्रकार असंख्य प्राणियोंकी भिन्न भिन्न शक्ति-संचालनका एकमात्र अभिप्राय सच्चिदानन्द परमेश्वरकी प्रतिष्ठाकी स्थापना है। व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत, जातिगत, कायिक, वाचिक, मानसिक भिन्न भिन्न प्रकारकी चेष्टाएं और भावनाएं हैं। उसी प्रकार ये सब उसी मूलतत्वकी प्रतिष्ठाके हेतु एक दूसरेके अभावकी पूर्ति करते हैं। उसी महान् गृहस्थकी चेष्टाएं हैं कि उस प्रभूत गृहस्थीके सञ्चालनके लिये अगण्य जीव और अगण्य उपकरणोंका संग्रह करते हैं। जो हमारे पास नहीं है उसका साधन तुम संग्रह कर देते हो और जिसका तुम्हें अभाव है उसका हम संग्रह कर देते हैं। जो इस देशमें नहीं पैदा होता वह अन्य देशोंसे आता है और जो अन्य देशोंमें नहीं उत्पन्न होता वह इस देशसे जाता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशों और व्यक्तियोंकी सहायतासे

सभ्यताकी उन्नतिकी धारा बहती है। एशिया और यूरोपकी धारा एक नहीं है, भारत और इंगलैण्डकी धारा एक नहीं है तथा एक देशमें भिन्न२ सम्प्रदायोंमें भी अभाव दृष्टिगोचर होता है, पर यह विभेद अभावकी पूर्ति करता है। हम अपने अभावोंकी पूर्ति तुम्हारेद्वारा कर लेते हैंऔर इसी प्रकार एक देश अपने अभावों-की पूर्ति दूसरे देशद्वारा करता है। इस अभावकी पूर्ति जिस प्रकार सर्वोत्तम हो सकती है वही गठित होता है और सम्पूर्ण उत्तम साधनोंका एकही उद्गम स्थान है और वही एक प्रत्येक व्यक्तियोंका लक्ष्य है और लोकसंग्रह उसीके अपेक्षित है।

इस लोकसंग्रहके काममें प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ देता ही है। इसमें छोटे बड़ेका भेद नहीं है। सभी इस महायज्ञके ऋत्विज हैं। इस यज्ञमें सभीको कुछ न कुछ हवन करना पड़ता है, चाहे वह राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, अंगरेज हो या फ्रांसीसी। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक जातिका इस संसारमें कुछ न कुछ करणीय है। ईश्वरने किसीको बेकार नहीं बनाया है। एक परमाणुका जन्म भी निष्प्रयोजन नहीं है। इस पृथ्वीतलका कोई जीव या कोई व्यक्ति निरर्थक नहीं है। लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि फूस-पत्तीमेंसे हीर निकल रहा है। विज्ञानशास्त्र मिट्टी और धूरमेंसे उत्तम उत्तम रत्न निकाल रहा है। मानव-संसारमें हम लोग जिसे हीन और नगण्य समझते हैं उसने ही इस महायज्ञमें क्या आहुति दी है हमलोग नहीं जानते। बरिसालमें गोपाल मेहतर नामका

एक व्यक्ति रहता था। कर्तव्यनिष्ठ वह इतना अधिक था कि हमलोग उसे अपना गुरू मानते थे। यदि इनकी साधारण वृत्तिपर ही ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि यह भी कोई साधारण बात नहीं है। सुना है कि जिस समय हमारे गुरुदेव पूज्यपाद स्वामी विजयकृष्णदेवजी कहीं जाते तो प्रस्थानके समय सदा मेहतरानीको बुलाते और उसे कुछ इनाम देकर प्रणाम करते और कहते—"मा! तुम जननीकी भांति मलमूत्र साफ करके हमलोगोंका उपकार करती हो उसका प्रतिफल देना तो असम्भव है। हमलोग तुम्हारे सदाके ऋणी हैं और आजन्म ऋणी रहेंगे।" हमलोग तो सदा उन्हें हेय और नीच समझते हैं, उनके कार्यकी महत्ताकी कभी गणना ही नहीं करते। यदि विचारपूर्वक देखें तो विदित होगा कि इन मेहतर और मेहतरानियोंका काम स्वकीया जननीके उस कामसे कम नहीं है जो वह बाल्यावस्थामें करती है। माता जिस भांति बाल्यावस्थामें हमारा मलमूत्र साफ करके परिच्छन्न रखती है उसी प्रकार ये जवानी और बुढ़ापेमें हमारे मलमूत्रको साफ करके हमसे गन्दगी दूर रखते हैं और सफाई करके स्वास्थ्यवृद्धिका साधन प्रस्तुत करते हैं। यदि उसको (मेहतरको) इस बातका ज्ञान हो जाय कि ईश्वरने उसे इसीलिये उत्पन्न किया है कि वह अपने कर्तव्यपालनसे संसारके सुख और स्वास्थ्यका संवर्धन करे तो वह अपनी हीन वृत्तिको घृणाकी दृष्टिसे न देखे बल्कि अतिशय प्रसन्न होकर वह उसका सम्पा-

दन करे। और यदि हम लोग भी उसके कार्यको इसी दृष्टिसे देखते तो हम भी गोस्वामी विजयकृष्णजीकी भांति उसके चिरकृतज्ञ रहते। यदि बढ़ई विचारपूर्वक अपने कामकी आलोचना करे तो उसे मालूम होगा कि उसका कार्य कितना महत्वपूर्ण है। प्रत्येक दिन उसे पचासों प्राणियोंके भरण पोषणके लिये भोजनादि सामग्रीके पकानेके लिये साधन प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि वह स्मरण करे कि भगवानने उसके हाथमें कितना भारी और महत्वपूर्ण काम दे रक्खा है तो दुःख न करके वह अत्यन्त आल्हादित होगा और उसे प्रतीत होगा कि उसके औजारके प्रत्येक आघातमें अमृतकी वर्षा हो रही है। और यदि हम लोग भी उसके कार्यको इसी दृष्टिसे देखें तो हमें भी प्रतीत होगा कि उसके शरीरका प्रत्येक बूंद पसीना मोतियोंके दाने हैं। दोपहरकी कड़ी धूपमें गलने और झुलसनेवाला किसान यदि इस बातका स्मरण करता कि विधाताने उसे किस महत्वशाली कार्यका भार सौंपा है, कितने आदमियोंके भरण पोषणकी जिम्मेदारी उसके सिरपर है तो वह अपने इस कड़े परिश्रमको ग्लानिपूर्वक कभी भी नहीं देखता। यदि हमलोग भी उसकी खेतीगिरीको इसी श्रद्धापूर्ण दृष्टिसे देखते तो उससे और भी अधिक स्नेह करते और उसके कार्यके गुरुत्वकी महिमा पूर्णरूपसे समझ सकते।

पर जिन मेहतरों, बढइयों और किसानोंने अपने इस कर्तव्यके मर्मको समझ लिया है उन्हें अपने भोजन-वस्त्रकी कोई

चिन्ता नहीं रहती, परिवार-पोषणकी चिन्ता उन्हें उद्विग्न नहीं कर सकती, वे समझ लेते हैं कि विधाताने उनका सारा प्रबन्ध कर दिया है, हमें केवल उसकी आज्ञाओंका पालन करना है और उसीके अनुसार चलना है। यह स्मरणकर कि विधाताने इस महत् सृष्टिके भरण पोषणका किञ्चित् भार उसके ऊपर भी रख दिया है, वह मनही मन पुलकित होता है। वह अनेक प्रकारकी चिन्ताओंमें अपना शरीर नहीं जलाता, वह अपनेको नीच नहीं समझता। वह विष्णु को प्रसन्न करनेके हेतु अपना सारा काम करता जाता है। संसारके कल्याणके लिये वह अपनी शक्तियोंका उपयोग करता जाता है। वह समझता है कि यदि लोग हमें नीच समझते हैं तो इसमें हमारी कोई हीनता नहीं है क्योंकि भगवानकी दृष्टिमें तो उसकी प्रतिष्ठा है। अपनी लीलाको सुचारु रूपसे चरितार्थ करनेके लिये उन्होंने उसे भी बुला कर अपने साथ कर लिया है। इन भावनाओंसे वह अतिशय प्रफुल्लित होकर रविदास भगत की भांति गाता है:—

सुरसरिसलिलकृत वारुणीरे
सन्तजन करत नाहि पानम्।
सुरा अपवित्र न त अवर जलरे
सुरसरि मिलत नाहि होहि आनम्॥

कितने सरल और मर्मभरे शब्द हैं। साधुजन गंगाजलसे बने मद्यको भी नहीं पी सकते। यदि कहीं सुरा पवित्र गंगा-

जलमें गिर जाय तो वह अपवित्र नहीं रह जाता और उसका अपर नाम भी नहीं रह जाता। उसकी अतिशय प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।

सुविख्यात सन्यासी सन्त अण्टानीने इस तरहकी वार्ता किसी चमार भक्तके बारेमें सुनी थी। अनन्त काल तक तपस्या करनेपर अण्टानीको देववाणी हुई कि अलेकजण्ड्रिया (अफ्रिका) नगरमें एक चमार रहता है, वह भक्तोंका राजा है। इस देववाणीको सुनते ही वे अपने स्थानसे उठे और अति शीघ्रताके साथ उसके श्रीचरणोंके दर्शनके लिये चले। उन्होंने उसके पास पहुंचकर देखा कि वह भगवानमें लिप्त अपनी जीविकाको अनवरत रूपसे चला रहा है और अपनेको सबका दास तथा सबसे हीन समझता है। उसको किसी कठिन तपस्याके आचरणकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उसने अपने कर्मका केन्द्र भगवानको ही मान लिया है। इतनेसे ही उसकी वासनाओंका बन्धन छिन्न-भिन्न हो गया है। इस प्रकार वह उच्च अधिकार-प्राप्त हो गया है।

इसी तरहका एक और भी वृत्तान्त है। एक साधुने ४० बर्षतक अनवरत तपस्या की। उसके बाद देववाणी हुई कि समीपके एक ग्राममें एक नीच जातिका मनुष्य रहता है जो उनकी अपेक्षा कहीं ऊंचे दर्जेपर पहुंचा है। इस प्रकार देववाणी सुनकर उनके हृदयमें उसके दर्शनकी उत्कट अभिलाषा उठी और वे उस ग्राममें गये। वहां पहुंचकर उन्होंने देखा कि एक स्थानपर भारी भीड़ जुटी है, लोग एक नटका तमाशा देख रहे

हैं और खूब गुल गपाड़ा मचा रहे हैं। उन्होंने उस फकीरका पता लगाया तो मालूम हुआ कि वह यही नट है। तमाशा समाप्त होनेके बाद वे महात्मा चुपचाप उसके पीछे हो लिये और अतिशय एकान्त स्थानमें पहुंचकर उससे पूछा—"आपने कौनसी ऐसी कठिन तपस्या की है अथवा महान् अनुष्ठान किया है जिससे भगवानकी आपपर इतनी कृपा हो गई है।" उनकी बातें सुनकर वह अवाक् हो गया। उसने कहा—"मैंने तो जाननेयोग्य किसी तरहकी तपस्या या अनुष्ठान नहीं किया है?" पर सन्यासी उसे सहजमें ही छोड़नेवाले नहीं थे। अनुनय विनय करतेही रहे। अन्तोगत्वा लाचार होकर उस नटने कहा—"हां, मुझे स्मरण आता है कि मैंने एक दिन एक कार्य किया था। वह कार्य यद्यपि खराब नहीं था तो बहुत अच्छा भी नहीं था।" साधुने उस कार्यका विवरण सुनना चाहा। तदनुसार उस नटने कहा—"एक दिनकी बात है कि मैं अपने गिरोहको लेकर तमाशा करने जा रहा था। मार्गमें मैंने एक स्त्रीको देखा जो घूंघट काढ़कर भीख मांग रही थी। पता लगाया तो मुझे मालूम हुआ कि उसका पति ऋणके बोझसे दबकर जेलखाना सो रहा है। इस स्त्रीके निर्वाहका कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया है, इस लिये लाचार होकर बिचारी भीख मांगकर ही गुज़ारा कर रही है। कुछ दिन पहलेकी बात है कि मैंने तमाशा दिखाकर उसीके घरसे कुछ पैदा किया था। इस समय उसके दुःखको घटानेकी मुझमें प्रबल उतकण्ठा उत्पन्न हो उठी। मैंने उससे उसके पतिके

कर्जकी रकमका पता लगाया। मालूम हुआ कि पांच सौ रुपया है मैं सीधा घर आया। मेरी स्वर्गीया पत्नीके गहने मैंने सन्दूकसे निकाले और उन्हें बेंचा। पर उससे दो सौसे अधिक न मिले। मैं बड़े संकटमें पड़ गया। निदान मैंने अपनी मण्डलीका साज बेंचकर शेष रुपयोंका प्रबन्ध कर लेना चाहा। इस प्रकार मैंने उस स्त्रीके पतिका कर्ज चुकाया और उसे छुड़ाया। इसमें कोई उल्लेख करनेयोग्य महत्वकी बात नहीं है।" उस समय साधुको विदित हुआ कि इस नटका कार्यक्षेत्र क्या है और किस कारण इसने भगवानके चरणोंमें स्थान पाया है। इसने अपना संकीर्ण स्वार्थ त्याग करके संसारके लाभकी कामनासे इस प्रकार कार्य किया है और यही कारण है कि यह इतने ऊंचे पद तक पहुंच गया है।

हमने पहले कहा है कि इस क्षेत्रमें हीन कोई नहीं है। महाभारतकी शक्तुप्रस्थ यज्ञकी कथा इस कथनका प्रमाण है। धर्मराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ शक्तुप्रस्थ यज्ञसे कहीं हीन हो गया। युधिष्ठिरकृत अश्वमेध यज्ञकी समाप्ति हो ही रही थी कि एक विचित्र प्रकारका नेवला—जिसका सिर और आधा शरीर सोनेका था—आकर यज्ञकी वस्तुओंको भ्रष्ट करने लगा। उसने कहा—"यह अश्वमेध यज्ञ शक्तुप्रस्थ यज्ञकी तुलनामें कहीं हीन है।" नेवलेकी यह बात सुनकर उपस्थित मण्डली विस्मित हो गई और इस नेवलेसे इस हीनताका कारण पूछने लगी। नेवलेने कहा "कुरुक्षेत्रमें एक ब्राह्मण रहता था। उसकी जीविकाका एकमात्र अवलम्ब

भिक्षा-वृत्ति थी। घरमें आप, पत्नी, पुत्र और पुत्रपत्नी चार प्राणी थे। दिनके छठे भागमें भीख मांगकर जो कुछ संग्रह कर सकते उसीसे अपना पेट पालते। कोई कोई दिन उपवासमें भी बीत जाता था। एक समय भीषण अकाल पड़ा। उस समय बिचारे ब्राह्मणके ऊपर तो और भी नयी विपत्ति आ गिरी। इस अकालमें भिक्षा मिलना दुर्लभ हो गया। अब फाकोंकी बातही पूछना व्यर्थ था। फाकेपर फाके होते थे। एक दिन ब्राह्मणने भीख मांगकर जो कुछ संग्रह किया उससे सत्तू तैयार कराया। सत्तू केवल इतनाही था कि सारे परिवारके पेटकी ज्वाला एक वार किसी तरह शान्त हो सकती थी। निदान सत्तूको चार भागोंमें बांटा गया और ब्राह्मण, ब्राह्मणी, पुत्र तथा पतोहू चारों अपना अपना भाग लेकर भोजन करने बैठीं। सत्तू सानकर मुहमें भी नहीं डाला था कि एक अतिथि (मेहमान) आकर उपस्थित हो गये। ब्राह्मण अपने आसनसे उठ बैठा और उनके आदर सत्कारमें लग गया। अतिथिके योग्य अर्घ आदि प्रदान करनेके बाद ब्राह्मणने अपने अंशको अतिथिके सामने लाकर उपस्थित किया। अतिथि उतना सत्तू खा गये पर उतनेसे उनकी क्षुधा न मिटी। अतिथिको भूखा रखना पाप समझकर ब्राह्मणीने अपना अंश भी उस अतिथिके सामने ला रखा। अतिथि उसे भी खा गये पर उनकी भूख न मिटी। यह देखकर ब्राह्मणके लड़केने भी अपना हिस्सा लाकर उनके सामने रख दिया। पर उससे भी अतिथिकी क्षुधा न गई। अन्तमें ब्राह्मणकी पुत्रवधूने अपना भी

हिस्सा उसे दे दिया। इतना सत्तू खानेके बाद अतिथिकी क्षुधा शान्त हुई। उस भूखे ब्राह्मण परिवारको वह रात भी उसी तरह निराहार काटनी पड़ी। इस अपूर्व उदारताका परिणाम यह हुआ कि उस ब्राह्मणके कुलकी विष्णुलोकमें प्रशंसा होने लगी और उसी अपूर्व त्यागके प्रभावसे वह ब्राह्मणकुमार स्वर्गका अधिकारी बन गया। अचानक मैं वहां पहुंच गया और सत्तूका जो कुछ उच्छिष्ट भाग जमीनपर गिरा था उसीपर लोटने लगा। देखते देखते मेरा सिर और आधी धड़ सोनेकी हो गई। आधी बची धड़को भी सोनेकी बनानेकी अभिलाषासे मैं तपोवनोंमें और यज्ञशालाओंमें घूमा किया, पर मुझे हर स्थानसे निराश होकर ही लौटना पड़ा। अन्तमें मैं यहां आया कि कदाचित् महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञकी पवित्र सामग्रियोंके स्पर्शसे मेरी मनोकामना सिद्ध हो। पर यहां भी मुझे निराश ही होना पड़ा। लाचार होकर मुझे इसी परिणामपर पहुंचना पड़ा कि महाराज युधिष्ठिरका यह धर्मयज्ञ भी उस गरीब ब्राह्मणके सत्तूदानरूपी यज्ञकी तुलनामें नहीं खड़ा हो सकता।"

कोई भी कार्य शुद्ध है या अशुद्ध, छोटा है या बड़ा, साधारण है या महान्, इन बातोंकी विवेचना और निर्णय केवलमात्र उस कार्यको सम्पादित करनेवालेकी योग्यता और स्थिति देखकर ही किया जा सकता है। सत्तूका दान बहुत ही साधारण बात थी। अश्वमेध यज्ञके दानकी तुलनामें वह नगण्य है, पर दान करनेवाले व्यक्तियोंका स्मरण करनेसे वह सत्तूका दान इस

अश्वमेध यज्ञके दानसे कहीं महत्वशाली प्रतीत होने लगता है और इसी लिये उसकी तुलनामें महाराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ अनि हीन हो गया।

हिन्दीमें एक कहावत है—"जैसे सत्तर वैसे अस्सी"। इस कहावतका अत्युत्तम उदाहरण यहांपर दृश्यमान है। किसी नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। उसकी जीविकाका एकमात्र उपाय चोरी था। इस वृत्तिमें रहकर उसने ५२ नरहत्या की। इतनी नरहत्याके बाद उसके हृदयमें ग्लानि उत्पन्न हुई और उसे अपने क्रियेपर पश्चात्ताप होने लगा। उसके मनकी वेदना इतनी प्रबल हो उठी कि वह एक सन्यासीके पास गया और अपनी हीन वृत्तिकी चर्चा करके पूछने लगा—"महाराज किसी उपायसे इस घोर पापसे मेरा भी उद्धार हो सकता है?" उसकी आत्मकहानी सुनकर सन्यासीने उसके हाथमें एक काले रंगकी पताका दी और कहा—"तुम चोरीके पेशेका त्याग करके इस पताकाको अपने हाथमें लेकर देश विदेश भ्रमण करो। जिस दिन यह पताका अपना रंग बदल देगी और श्याम रंगसे सफेद रंगकी हो जायगी, उस दिन समझना कि तुम्हारा पाप भी छूट गया और तुम उससे मुक्त हो गये।" ब्राह्मणको जन्मभरका अभ्यास था। इससे कमरमें तलवार लटकाकर वह पताका लेकर देश विदेश जंगल और बस्तियोंमें घूमने लगा। सदा उसे इस बातकी चिन्ता जलाती रही कि वह दिन कब आवेगा जब वह इस घोर पापसे मुक्त होगा। एक दिनकी बात है कि वह

किसी एकान्त स्थानसे भ्रमण करता चला जा रहा था कि उसने देखा कि एक लम्पट नराधम किसी स्त्रीकी मर्यादा बिगाड़नेके हेतु उसपर आक्रमण करने जा रहा है और बिचारी सुन्दरी स्त्री मारे भयके भाग रही है। इस कृत्यको देखकर ब्राह्मणने ऊंचे स्वरसे आवाज दी कि अरे नरपिशाच! रुक जा! रुक जा! और आगे कदम उठानेकी धृष्टता न कर! पर वह दुष्ट कब माननेवाला था। वह उसी तरह चला गया और उस युवतीके पास पहुंचकर उसपर आक्रमण करही बैठा। ब्राह्मण भी अति वेगसे वहांपर पहुंच गया, पर उस युवतीके उद्धारका अन्य कोई मार्ग न देखकर उसने एक बार चिल्लाकर कहा—"जैसे सत्तर वैसे अस्सी" और कमरसे तलवार निकालकर उस चाण्डालके गलेपर इतने जोरसे मारी कि उसका सिर धड़से अलग हो गया और रक्तकी धारा फौवारेकी तरह उसकी गर्दनसे निकलकर बहने लगी। ब्राह्मणने अपनी गर्दन उठाई और धाराप्रवाह देखने लगा। उसने विस्मित होकर देखा कि उसी रक्तकी धाराके प्रवाहके साथ उसकी पताका भी अपना रंग बदलती चली जा रही है और नीलेसे सफेद होती चली जा रही है। इसी निःस्वार्थ कार्यसे स्वर्गमें उसका जयजयकार मचने लगा और चोरी तथा नर-हत्याजनित घोर पापसे उसकी मुक्ति हो गई।

जिस आधारका अवलम्बन करके उस ब्राह्मणने तिरपन मनुष्योंकी हत्या की थी उसी आधारके अनुसार भगवान कृष्ण-चन्द्रने महायति अर्जुनको युद्ध करनेके लिये आदेश किया था।

भगवानने पहले अन्य उपायोंद्वारा ही दुर्योधनको इस पाप कर्म-से दूर करनेका यत्न किया था, पर जब वे सफलमनोरथ न हुए तो लाचार होकर उन्हें इसी मार्गका अनुसरण करना पड़ा और उन्होंने अर्जुनको युद्ध करनेके लिये प्रेरित किया। इस युद्धमें पाण्डवोंका स्वार्थ नहीं भरा था। यह युद्ध पापको उठाकर वसुन्धराका बोझ हलका करनेके लिये किया गया था। यह धर्म-युद्ध था और संसारके कल्याणके लिये किया गया था।

इसीको आधार मानकर जो कोई कार्य किया जाय, उससे लोकके कल्याणकी सम्भावना रहती है और इस आधारके अति-रिक्त जितने आधार हैं सबमें लोककी हानिकी सम्भावना है। जो व्यक्ति, जो जाति, जो समाज, जो राष्ट्र इस आधारको सामने रखकर और अपना लक्ष्य बनाकर काम करते हैं वे धन्य हैं। इङ्ग-लैण्डने गुलामीकी प्रथा दूर करनेमें इसी प्रथाका अवलम्बन किया था। अमेरिकावालोंने अधीनस्थ जाति फिलीपाइन प्रदेशवालोंको स्वतन्त्र कर देनेका जो निश्चय किया था उसका भी आधार यही था। इसी आधारको अपने सामने रखकर, अपना लक्ष्य बनाकर जो जाति अपने देश या राष्ट्रका कार्य सुसम्पन्न करेगी वही राष्ट्र और जाति धन्य है, वही प्रकृत मार्गका अनुसरण करनेवाली है और वही सच्चा देशका कल्याण करती है। "सर्वभूतहिते रताः" अर्थात् संसारके सभी प्राणियोंके कल्याणमें सदा तत्पर रहनेको ही लोकसंग्रह कहते हैं। विना इस भावके हृदयमें व्याप्त हुए सच्चा लोकसंग्रह नहीं हो सकता। ऊपरसे लोकसंग्रहकी

दुन्दुभी बजाकर भीतर निजी स्वार्थकी भीषण मायामें पड़े रहनेका क्या फल होता है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान यूरोप है। रणचण्डी जो भीषण रूप धारण करके समस्त यूरोपमें नाच रही है और अपने भीषण ताण्डवके अन्तर्गत समस्त विश्वको कवलित कर जाना चाहती है उसका कारण यही स्वार्थान्धता है। जो जाति किसी अन्य कमजोर जातिकी श्रीवृद्धि नहीं देख सकती, दूसरेकी बढ़ती देखकर जिस जातिके मुंहमें तुरंत पानी आजाता है और जीभसे लार टपकने लगती है, अथवा जो जाति दूसरी जातिकी शक्तिको बलात् अपने वशमें करके उसका अपने मनके अनुसार सञ्चालन करना चाहती है अथवा अपनी शक्तिमें उसे बलात् मिलाकर अपनी शक्तिकी प्रतिष्ठा करानी चाहती है, वह जाति समस्त संसारकी शत्रु है और उसके पापोंका फल अवश्य फलित होगा। प्रकृतिमें सबका एकही बीजाधार होकर भी संसारके प्रत्येक प्राणी, समाज, सम्प्रदाय, राष्ट्रका व्यक्तित्व भिन्न है और उसी आधारपर उनका धर्म भी भिन्न है और उस धर्मके अनुसार प्रत्येककी जीवनधारा भिन्न भिन्न स्रोतोंसे बही है यद्यपि अन्तमें सभी उसी एक अति विस्तृत सागरमें जाकर मिली हैं। इस स्वधर्ममें प्रत्येक दूसरेसे जबर्दस्त है। दूसरी तरफ चाहे जो कुछ भी त्रुटि हो, पर इस स्थलमें सबही शक्तिसम्पन्न हैं। साधारणतया यह बात देखनेमें आती है कि यदि किसी मनुष्यका एक अवयव कमजोर या दुर्बल रहता है। तो उसी हिसाबसे उसका दूसरा अवयव मजबूत और पुष्ट रहता

है : जैसे गूंगे और बहिरेकी देखनेकी शक्ति बड़ी तेज होती है, अंधेकी छूकर पहचाननेकी शक्ति तेज होती है, इसी प्रकार यहां भी जिसमें जो अभाव रहता है इस त्रुटिकी पूर्तिके लिये प्रत्येक राष्ट्र या जातिकी स्वाभाविक शक्ति अथवा स्वधर्मशक्तिका सञ्चालन होता रहता है और वह वृद्धि पाती जाती है। इसी प्रसंगको लेकर इमर्सनने लिखा है :—

"Only by obedience to his genius, only by the freest activity in the way constitutional to him, does an angel seem to arise before a man and lead him by the hand out of all the wards of the prison."

"अर्थात् एकमात्र अपनी नैसर्गिक बुद्धिकी सहायतासे ही नैसर्गिक प्रवृत्तिके अनुसार उसके प्रयोगसे ही मनुष्यको प्रतिभासित होगा कि एक दिव्य मूर्ति उसके सामने उपस्थित होकर कारागारसे उसे निकालकर बाहर खींच रही है अर्थात् उसके सारे बन्धनोंको काटकर उसे मुक्त कर रही है।" यह उक्ति सबके लिये समान है, चाहे वह कोई व्यक्तिविशेष हो, राष्ट्र हो, जाति हो या समाज सम्प्रदाय हो। जो जाति अपने धर्मका त्याग करके दूसरोंके धर्मको स्वीकार करनेकी चेष्टा करती हो या दूसरोंको अपना धर्म छुड़ाकर दूसरे धर्ममें दीक्षित करनेकी चेष्टा करती हो वह जाति महा अभागी है। संसारके कल्याणकी कामनासे प्रेरित होकर अपने प्राकृत धर्मके अनुसार ही चलकर और अपने में

जो कुछ हीनता या कमी दिखाई दे उसकी पूर्ति अन्य स्थानसे कर लेना या यदि दूसरोंमें किसी तरहका अभाव या हीनता दिखाई दे तो उसे पूर्ण कर देनेकी चेष्टा करना, इसीको लोक-संग्रहका सच्चा मार्ग कहते हैं। 'भिन्न भिन्न मार्गोंके द्वारा यात्रा करके अर्थात् भिन्न भिन्न मार्गोंका अनुसरण करके उसी सच्चि-दानन्दकी प्राप्तिको ही लक्ष्यमें रखकर यात्रा करना सच्चा लोक-संग्रह है।

कर्मयोगीके लक्षण

जो मनुष्य संसारके कल्याणके लिये काम करता है वही सच्चा कर्मयोगी है। भगवान श्रीकृष्णने गीतामें ऐसे कर्मयोगीके लक्षण बताये हैं:—

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते॥

जो मनुष्य आसक्तिसे रहित है अर्थात् जिसे संसारकी किसी भी वस्तुसे मोह नहीं है और न जिसे 'अहम्'का निरर्थक अभिमान है, और जिसके हृदयमें असीम धैर्य और उत्साह भरा पड़ा है और जो सिद्धि तथा असिद्धिके लिये सदा निरपेक्ष रहता है अर्थात् न तो उसे लाभसे अतिशय सुख होता है और न हानिसे दुःख, ऐसा ही मनुष्य निष्काम कर्मयोगी है और इसीको सात्विक कर्ता कहते हैं।

मुक्तसङ्ग

जिस मनुष्यको संसारकी आकर्षक वस्तुएं अपनी ओर खींच नहीं सकतीं वह मनुष्य बन्धनमुक्त है, स्वस्थ है, स्वाधीन है। जब मनुष्यका किसी वस्तुकी तरफ खिंचाव नहीं रहता तो फिर उसे किसी बातकी परवा क्यों होने लगी। ऐसेही लोगोंके विषयमें भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है:—

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

जो मनुष्य राग अर्थात् प्रेम और स्नेहके बन्धन तथा क्रोधसे बरी है और जिसने अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया है और तब संसारके विषयोंमें विचरण करता है, इस तरहका मनुष्य जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है और अपने मन-पर पूरा अधिकार कर लिया है वही प्रसाद लाभ करता है— अर्थात् इस अवस्थाको प्राप्त मनुष्य संशयके द्वन्द्वमें कभी भी नहीं पड़ते, सदा, सर्वदा और सभी अवस्थामें प्रसन्नचित्त रहते हैं। ऐसे ही पुरुषोंको लक्ष्य करके भगवान श्रीकृष्णने कहा है:—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

अर्थात् जिस मनुष्यको प्रसादकी प्राप्ति हो गई उसके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश अवश्य ही हो जायगा। जो मनुष्य इस प्रकार परम आनन्दकी प्राप्ति करता है उसकी बुद्धि अतिशीघ्र आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होती है। जनक आदि बड़े बड़े महात्माओंने इसी प्रणालीका अनुसरणकर कार्य किया था और सिद्धिलाभ किया था। गीतामें भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने कहा भी है :—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

अर्थात् निष्काम कर्मयोगके अनुसार ही कर्म करके राजा जनक आदि महात्माओंको सिद्धि मिली थी ।

उपरोक्त प्रकारके प्रसादके प्रभावसे बुद्धि आत्मामें प्रतिष्ठित हो गई थी। यह जानकर ही महाभारत शान्तिपर्वमें महात्मा जनकने कहा थाः—

अनन्तम् वत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किञ्चन ॥

हमारी सम्पत्ति और विभूतिका अन्त नहीं है पर मेरा कुछ भी नहीं है। यहां तक कि यदि अग्निदेवके कोपसे आज मिथिला देश जलकर भस्म भी हो जाय तो इससे मुझे किसी तरहकी हानि नहीं हो सकती। इसी प्रसंगको लेकर योगवाशिष्ठमें महर्षि वशिष्ठने कहा हैः—

सुषुप्तावास्थितस्येव जनकस्य महीपतेः ।
भावनाः सर्वभावेभ्यः सर्वथैवास्तमागताः ॥

महाराज जनक सदा सुषुप्तावस्थामें रहे, अर्थात् जागते हुए भी, संसारका कार्य सञ्चालन करते भी संसारके मोहबन्धनोंसे वे मुक्त थे, सुख-दुःख उनके लिये बराबर था, हानि-लाभ उनके लिये एकसा था, इसलिये संसारकी वस्तुओंमें मनुष्यकी जो आसक्ति होती है वह उनसे कोसों दूर थी अर्थात् उसका उनपर प्रभावही नहीं पड़ सका था। इस अवस्थामें आकर—

भविष्यं नानुसंधत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषस्तु हसन्नेवाभिवर्त्तते ॥

न तो उन्हें भविष्यकी चिन्ता थी और न भूतका अनुभव उन्हें

विह्वल करता था अर्थात् जो काम हो गये थे उनके कुपरिणामके ज्ञानसे न तो वे कभी व्याकुल होते थे और न उनके अनुसार गणना करके वे कभी इसी बातसे चिन्तित होते थे कि भविष्यमें भी किसी तरहकी खराबी न आजाय। उनका एकमात्र लक्ष्य वर्तमानपर रहता था। अर्थात् वर्तमान समयमें जो कुछ सामने आता था और जिसे वे करणीय समझते थे उसका आचरण हँसते हँसते प्रसन्नचित्त किया करते थे। अर्थात् सदा और सर्वदा वे प्रसन्नचित्त रहते थे, कभी विह्वल या व्याकुल नहीं होते थे। जो इस पदको प्राप्त होना चाहते हैं उन्हींको लक्ष्य करके महाकवि लांगफेलोने लिखा है :—

"Trust no future, however pleasant,
Let the dead past bury its dead ;
Act, act in the living Present,
Heart within and God o'erhead."

चाहे भविष्य कितना ही सुन्दर और आशाप्रद क्यों न प्रतीत होता हो उसपर भरोसा मत रखो। और जो बातें बीत गईं उनकी भी परवा मत करा, उन्हें भूतकालके अनन्त उदरमें विलीन हो जाने दो। केवल वर्तमानको अपने दृष्टिपथपर रखकर अनवरत रूपसे निरन्तर काम करते रहो और केवल ईश्वर तथा अपने साहसपर भरोसा रखो।

जिस मनुष्यको संसारके किसी भी पदार्थसे आकर्षण नहीं रह जाता और जिसे संसारकी कोई भी वस्तु अपनी ओर खींच

नहीं सकती उसी मनुष्यको रागद्वेषसे मुक्त कह सकते हैं और उसी मनुष्यके लिये कहा गया है कि:-'दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह वीतरागभयक्रोधः।' अर्थात् रागद्वेषसे जो मनुष्य मुक्त हो गया है वह विपत्तियोंके आपड़नेपर कभी भी नहीं घबराता, अर्थात् पूर्ण धीरता और साहसके साथ वह विपत्तियोंको सहता है और यदि सुख, आनन्द या प्रसन्नताकी कोई बात आ पड़ी तो वह आनन्दसे विह्वल नहीं हो जाता। न तो उसे किसी वस्तुविशेषसे प्रेम रहता है, न किसीसे वह डरता है और न उसमें क्रोध रह जाता है।

ऐसे ही मनुष्यको उदार कहते हैं। उनके लिये किसी सम्प्रदाय विशेषका बन्धन नहीं है और यदि बाहर किसी सम्प्रदाय विशेषके अंगभूत हो भी गये तो उनके हृदयमें किसी तरहका द्वेष भाव नहीं रहता। वास्तवमें वे सदा सम्प्रदायही नहीं रहते हैं। बन्धनसे मुक्त होकर उस ग्रन्थिके बाहर आकर वे देखते हैं कि:—

"भिन्न भिन्न मत, भिन्न भिन्न पथ
किन्तु एक गम्यस्थान"

अर्थात् इस संसारमें अनेक तरहके मत और सम्प्रदाय प्रचलित हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय भिन्न भिन्न मार्गोंकी ओर ले जाना चाहता है पर सबका लक्ष्य एक ही है, अर्थात् सबको पहुंचना एक ही स्थानपर है चाहे वह किसी भी मार्गका अनुसरण क्यों न करे।

प्रकृतिकी लीलाका अनवरत निरीक्षण करनेसे उस बहुत्वमें एकत्वका ज्ञान होता है। कठोपनिषद्में कहा है:—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः ।

उसे दिखाई देता है कि यह ब्रह्माण्डमय विश्व एक अश्वत्थका वृक्ष हैं जिसकी जड़ तो ऊपरको है और शाखाएं नीचेकी तरफ फैली हुई हैं। ये शाखाएं अपरिमित हैं पर इन सबमें एक ही लीलामयकी लीलाकी क्रीड़ा होती रहती है। पर इस लीलाके अन्तर्गत काम करनेवाले प्रत्येक पात्रोंको कुछ न कुछ अलग २ करना है। इसीलिये कहा भी है:—"भिन्नरुचिर्हि लोकः।" संसारके प्रत्येक प्राणीकी रुचि भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिका व्यक्तित्व भिन्न २ है जिस व्यक्तित्वका नाश लाख चेष्टा करनेपर भी नहीं हो सकता। उस व्यक्तित्वका सम्मान द्वेष और पक्षपातरहित मनुष्य जितनी उदारता और श्रद्धासे कर सकता है अन्य कोई नहीं कर सकता। मुक्तसङ्ग मनुष्यको विदित होता है:—

"God fulfils Himself in many ways."

भगवान अनेक रूप धारण करके व्यक्त होते हैं और अपने व्यक्तित्वका सम्पादन करते हैं। वे सर्वव्यापी हैं इसलिये उनके तत्वपूर्तिके मार्ग भी अनेक हैं। इसी अवस्थाको दृष्टिपथमें रखकर भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा था:—

ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य जिस भावसे मेरा भजन करता है उसी भावगम्य रूपको ग्रहण करके मैं उसके पास उपस्थित होता

हूं। मनुष्य हर तरहसे मेरा ही पथगामी होता है। इसी भावको लेकर गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है:—

जाकी रही भावना जैसी, हरिमूरति देखी तिन तैसी।

इस मर्मके तत्वको हृदयङ्गम करके ही मुक्तसङ्ग प्राणी सबके प्रति असीम उदारताका भाव धारण करते हैं। क्योंकि वे समझते हैं कि इस पृथ्वीतलपर सबका बराबरका अधिकार है।

इब्राहिम खलीलुल्लाके पदपर प्राप्त हो गये थे और लोग उन्हें ईश्वरका बन्धु समझते थे। उनका नियम था कि वे विना नरयज्ञ किये कभी भी भोजन नहीं करते थे। प्रत्येक दिन वे एक अतिथिको भोजन कराकर ही आप स्वयं भोजनादि करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि कोई अतिथि नहीं आ सका। इब्राहिम चिन्तित होकर अतिथिकी तलाशमें चले। मार्गमें उन्हें सौ वर्षका बुड्ढा एक जीर्ण शीर्णकाय मनुष्य मिला। इब्राहिम बड़ी अभ्यर्थनासे उसे अपने घर लाये। अतिथिको भोजन परोस कर आप भी सपरिवार भोजन करने बैठे। नित्य प्रतिकी प्रथाके अनुसार सबके सब ईश्वरका स्मरण करने लगे। पर वृद्धने वैसा नहीं किया। इब्राहिम वृद्धकी यह उदासीनता और उपेक्षा देखकर उससे कारण पूछने लगे। उसने उत्तर दिया—"मैं मुसलमान नहीं हूं। मेरे सम्प्रदायमें इस तरहकी प्रथा प्रचलित नहीं है।" उसकी यह बात सुनकर इब्राहिम मारे क्रोधके लाल हो गये। उनके ओंठ कांपने लगे। वे अपनेको किसी भी तरह

सम्भाल नहीं सके। उसी क्रोधके आवेशमें उस वृद्ध अतिथिको उन्होंने मारकर घरसे निकाल दिया। जिस समय बूढ़ा घरसे बाहर निकला उसी समय आकाशवाणी हुई--"इब्राहिम ! जिस मनुष्यको मैंने सौ वर्ष तक इतने आदरके साथ इस संसारमें रखा क्या तुम उसे अपने घरमें आध घण्टेके लिये भी स्थान देनेमें समर्थ नहीं हो सके।" यह देववाणी सुनते ही इब्राहिमको पश्चात्ताप हुआ। वे फौरन दौड़े और उस वृद्ध अतिथिको अपने घरमें ले आये और पहलेसे भी अधिक खातिरदारीसे उसका सम्मान किया। मालूम होता है कि इसी घटनासे इब्राहिमका मोह छूटा और उन्होंने खलीलुल्लाकी पदवी पाई।

मुक्तसङ्ग मनुष्य इस प्रकारका व्यवहार नहीं कर सकता। पापी और पुण्यात्मा सभी उसकी दृष्टिमें एक हैं। उसका उदार हृदय सबके लिये खुला रहता है। उसका मन कहता है कि संसारमें ऐसा कोई भी अधम प्राणी नहीं है जिसके लिये परमपिताके हृदयमें स्थान न हो। चाहे कोई कितना ही नीच क्यों न हो, भगवान अपने हृदयमें उसे भी स्थान देते ही हैं। चाहे वह चोर हो या हत्यारा हो, पतितपावनी पवित्रसलिला स्रोतस्विनीका जल सदा उसके लिये भी उसी तरह मीठा और सुस्वादु रहता है। जो मनुष्य संसारके बन्धनोंसे छुटकारा पा गया है उसके लिये तो अब सम्प्रदायजनित अथवा संस्कारजनित बन्धन रह नहीं गया है। अपनी दिव्य दृष्टिके द्वारा वे संसारके सभी प्राणियोंमें देवत्व और पशुत्वका भाव देखते हैं। उनकी दिव्य दृष्टि महा

अधम, नीचसे नीच पापीके हृदयमें भी देवत्वका अंश देखतो है। संसारमें ऐसा कोई भी पापी नहीं है जिसके हृदयमें देवत्वके कुछ न कुछ लक्षण वर्तमान न हों। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें देवत्वका कितना अंश है तथा पशुत्व किस परिमाणमें है इसका विवेचन तो होना कठिन है क्योंकि इसके नापनेका किसीके पास कोई साधन नहीं है। प्रसिद्ध ठग तांतिया भीलके हृदयकी उदारताका परिचय पाकर क्या कोई उसे उपेक्षाकी दृष्टिसे देख सकता है? प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें षड्रसोंका समावेश है। जिससे तुम्हारी शत्रुता है वह सदा तुम्हें सतानेकी चेष्टा करेगा। उसके इस कड़ुवे फलका आस्वादन करके तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि उसमें कोमलता या मिठास है ही नहीं। उसके भी मित्र होंगे जो उसके सद्व्यवहार और नरमीसे निहाल हो जाते होंगे। हत्यारा क्या करता है। एक तरफ तो एक जीवकी हत्या करता है, उसके शरीरमें पैनी कटारी बड़ी निर्दयताके साथ घुसेड़ देता है और दूसरी तरफ वह दूसरे व्यक्तिको सप्रेम हृदयसे लगाता है। ऐसा भी देखनेमें आता है कि नर-हत्या जनित आघातसे हृदयके अन्तर्हित भाव जग उठते हैं। हमें एक हत्यारेका उदाहरण याद है। उसे फांसीका हुक्म हुआ था और वह हिरासतमें बन्द था। वह वहां हर वक्त ईश्वरका नाम जपा करता था। अन्त समय तक वह ईश्वरका नाम जपता रहा। फांसी दिये जानेके एक दिन पूर्व उसने एकमात्र यही प्रार्थना की थी कि अन्त समयमें मेरे मुखमें गङ्गा जलकी दो

बूंदें डाल देना। उसकी इच्छा पूरी की गई। अलीपुर जेलमें एक हत्यारेको और भी देखा था। जिस समय मैं उसकी जेल कोठरीके दरवाजेपर पहुंचा वह गाढ़ निद्रामें पड़ा सो रहा था। पहरेदारने उसे जगाया और मुझे प्रणाम करनेके लिये कहा। उस कैदीका नाम मांगनखां था। वह एक साधारण किसान था। मैंने उससे पूछा—"तुम्हें फांसीका यह कठोर दण्ड क्यों मिला? और तुम्हारा अन्तिम दिन कब होगा?" उसने उत्तर दिया कि शायद चार या पांच दिन और शेष हैं। मैंने उससे कहा—"भाई! तुम तो बड़ी निश्चिन्ततापूर्वक प्रगाढ़ निद्रामें सोते हो। मेरी समझमें नहीं आता कि ऐसी अवस्थामें तुम्हें नींद क्योंकर आती है।" उसने उत्तर दिया—"बाबूजी मेरी अवस्था इस समय ६२ वर्षकी है। बहुत दिन तक इस संसारमें रह लिया। इस संसारके अनेक रूप देखे हैं। अब जीता ही कबतक रह सकता हूं। अधिकसे अधिक पांच या सात बरस। ६२ बरसके मुकाबिलेमें ५ या ७ की क्या गणना है। इतने दिन जीना न जीना बराबर है। इस पृथ्वीपर बहुत दिन तक रहा हूं। और एक बात है। घरपर रहकर स्वभाविक मौत मरना होता। न जाने किस तरह मृत्यु होती। इस शरीर-को न जाने कौनसी यातनाएं भोगनी पड़तीं। न जाने कितने प्रकारकी व्याधियां आक्रमण करतीं। महीनों रोग-शय्यापर पड़े कराहना पड़ता। घरके प्राणी सेवा शुश्रूषा करते करते परेशान हो जाते और मनमें कहते—न जाने यह बुड्ढा कबतक पड़ा पड़ा

ऐसा न होगा तो शान्ति भी नहीं हो सकती। अंग्रेजीमें एक कहावत है:—Out of evil cometh good अर्थात् बुराइयोंसे भलाईकी उत्पत्ति होती है। बुराई करते करते मनुष्य अस्थिर हो जाता है, क्लान्त हो जाता है। इस वेदनामें जलकर वह सुमार्गको खोजमें चलता है और उसकी प्राप्ति करके उसीका अवलम्बन करता है। मुक्तसंग मनुष्य यह मानता है कि एक न एक दिन सभी सन्मार्गगामी होंगे, इसीलिये वह सबके प्रति उदार भाव प्रगट करता है।

जिसके हृदयमें उदारताका स्रोत बहा करता है वह किसी भी अवस्थामें कदम पीछे नहीं हटाता। हृदयकी उदारता जब समस्त विश्वमें व्याप जाती है तब अभिमान और बेगानापनका भाव लुप्त हो जाता है और इमर्सनके शब्दोंमें:—'he will be content with all places and with any service he can render' अर्थात् जिस किसी पदपर उसे रख दीजिये वह सन्तुष्ट रहेगा और जो कुछ सेवा कर सकेगा उसीसे सन्तुष्ट रहेगा। उसकी दृष्टिमें कोई भी ऐसा पद नहीं है जिसकी प्रतिष्ठा कम या अधिक हो। जिस पदपर वह प्रतिष्ठित हो जायगा उस पदको त्यागकर वह दूसरे पदकी प्राप्तिकी कामना नहीं करेगा।

मुक्तसङ्ग मनुष्यमें त्यागकी मात्रा भी अत्यधिक रहती है। जो मनुष्य हर तरहके बन्धनसे मुक्त है उसे त्यागमें भी किसी तरहका कष्ट अनुभव नहीं हो सकता। जो मनुष्य संसारके मोह-बन्धनमें जितनाही फंसा रहता है उसके लिये त्याग भी उतनाही

कठिन हो जाता है। जो मनुष्य रागद्वेषका त्याग करके परमपिता परमेश्वरकी आत्माको अपनेमें प्रतिष्ठित देख लेता है वह मनुष्य सर्वार्थसिद्ध हो जाता है। हमलोग जिस भावको त्याग संज्ञा देते हैं वह उसको दृष्टिमें कोई बात नहीं है।

पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावतिष्ठते॥

यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्णकी उत्पत्ति हुई है। पूर्णसे ही पूर्ण अपनी पूर्णताको प्राप्त करता है और अन्तमें पूर्ण ही रह जाता है।

जिस मनुष्यने इस तत्वको पूर्णतया समझ लिया है वह जानता है कि त्यागसे उसकी किसी प्रकारकी हानि नहीं हो सकती। और इसीलिये वह त्यागसे डरता नहीं। दधीचि समझ गये थे कि जीवनका उत्सर्ग करना कोई बड़ा भारी त्याग नहीं है। वृत्रासुरके संहारके निमित्त उन्होंने बिना किसी प्रयासके प्राणत्याग किया। उन्हींकी हड्डीसे वज्र बना और उसी वज्रके द्वारा वृत्रासुरका संहार हुआ। त्यागसे ही वज्र समान कठोरादपि कठोर अस्त्रका जन्म हुआ। रूसके सेनापति स्टोसेलने रूस-जापान-युद्धके समय पोर्ट आर्थरपर जापानी वीरोंके असीम और अभूतपूर्व त्यागको देखकर कहा था :—"जापानके निवासी मातृभूमिकी वेदीपर जिस साहस और उत्साहके साथ अपना सर्वस्व बलिदान कर रहे हैं वही त्याग उन्हें रणक्षेत्रमें इस प्रकार दुर्जय बना रहा है।" पोर्ट आर्थरके विजयी जापान

सेनापति नोगीने रणक्षेत्रमें अपने दोनों पुत्रोंके पतनका संवाद सुनकर कहा थाः—"मेरे दोनों रत्न स्वदेशके लिये लुट गये, इससे उत्तम बात और क्या हो सकती थी !" त्यागसे जिस शक्तिकी उत्पत्ति होती है उसके द्वारा पाप, अधर्म, अन्धकार, समस्त कुवासनओंका नाश हो जाता है।

कर्मयोगी मुक्तसङ्ग है और इसीलिये वह स्वस्थ है, स्वाधीन है, भावना विहीन है, प्रसन्नचित्त है, उदार है और त्यागी है

अहंकार हीनता

सात्विक कर्ता अहंकारहीन होता है। जो संसारके लगाव-से मुक्त होजाता है उसके हृदयमेंसे "अहम्"का भाव उठ जाता है। फिर उसके लिये "अहम्" तो कोई वस्तु नहीं रह जाता। जब "अहम्" का बन्धन दूर हो जाता है तो मनुष्यका हृदय निर्मल आकाशकी तरह शुभ्र होजाता है। फिर उनके उदार चित्तमें सारा विश्व एक प्रतीत होने लगता है, भेदभाव उठ जाता है और वे किसी भो बातमें उद्विग्न नहीं होते। जिस प्रकार संसारका धन्धा सुसंगठित और सुसम्पन्न होकर चलता है उसी प्रकार उनके जीवनका कार्य भो सुसंगठित होकर सुचारु रूपेण चलता है। उनके हृदयमें यह भाव दृढतर होकर जम जाता है कि भगवान-को प्रेरणा और देवताओंकी सदिच्छासे जो कुछ मेरे जीवनमें घटेगा वह उचित ही होगा। इसी भावसे प्रेरित होकर वे किसी भी बातसे, किसी भी घटनासे उद्विग्न नहीं होते। इसी प्रसंग-को लेकर महर्षि वशिष्ठने योगवाशिष्ठमें कहा भी हैः—

त्यक्ताहं कृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः ।

अर्थात् अहंकारका त्याग कर देनेसे मनुष्यकी बुद्धि एक दम-से स्थिर हो जाती है अर्थात् उद्वेगशून्य हो जाती है और अहंकार-हीन मनुष्य निर्मल आकाशकी भांति स्वच्छ होकर अतिशय शोभाको प्राप्त होता है। ग्लेडस्टन अनुद्विग्नचित्त और स्थिर प्रकृतिका मनुष्य था। ब्रिटिश साम्राज्यके प्रधान मन्त्रित्वका गुरुतम भार उसके सिरपर बोझकी भांति लदा था, फिर भी वह उद्विग्न या चिन्तित नहीं हुआ। इसको देखकर उसके एक मित्र-को अतिशय आश्चर्य हुआ और उन्होंने उससे पूछा। उसने उत्तर दियाः—"इतने दिनोंमें केवल एक दिन चिन्ताके मारे मुझे नींद नहीं आई। एक दिनकी बात है कि मैं एक ओकका पेड़ अपने हाथोंसे काट रहा था। काटते काटते शाम हो गई। फिर भी थोड़ा काम रह गया था। मैं थक गया था। इसलिये उस दिन वहीं छोड़कर घर लौट आया। रातको तूफान आया और उस तूफानसे मेरी निद्रा टूट गई। मैं पड़े पड़े चिन्ता करने लगा कि इस तूफानसे वह वृक्ष अवश्यही टूट गया होगा। मैं उसे काट कर नहीं गिरा सका। मैं इतने बड़े साम्राज्यके कार्य-भारकी चिन्ताको पार्लियामेंटके द्वारपर ही छोड़कर घर आता हूं। और घरमें लेशमात्र भी चिन्ता मेरे सिरपर नहीं रहती।

"अहम्" भावके दूर होते ही अपने परायेका भेदभाव निकल जाता है। जहां अपने और परायेका भेदभाव मिट जाता है फिर धन्यवाद और कृतज्ञता किसके निकटसे चाही जायगी।

क्या भाईसे भाई धन्यवाद या कृतज्ञताका इच्छुक होगा। क्या पिता अपने पुत्रके मुंहसे अपने यशकी कीर्ति सुनकर सुख तथा प्रसन्नता लाभ करेगा। जहां सभी अपने हैं वहां कृतज्ञता और प्रशंसाकी अभिलाषा किसके द्वारा की जाय। और न वह किसीके निकट कृतज्ञता प्रकाशित करनेकी इच्छा ही कर सकता है। उस अवस्थामें उपकार और भलाई करना तो अपना एक-मात्र उचित कर्तव्य ही है। फिर कर्तव्यका पालन करनेमें किस बातकी प्रतिष्ठाकी कामना चाहिये। हां, जो नहीं करता उसके लिये दवा है पर जो कर्तव्य करता जाता है उसकी सीमा नहीं है।

अहङ्कारहीन पुरुषके कर्तव्यपालनमें किसी तरहकी विड-म्बना नहीं रहती। जिस प्रकार प्रकृति आडम्बरहीन होकर सहज भावसे अपने कर्तव्यका पालन करती जाती है उसी तरह वह भी सहज उदार भावसे अपना कर्तव्य करता जाता है। महर्षि वशिष्ठने योगवाशिष्ठमें कहा भी है:—

नाभिवाञ्छाम्यसंप्राप्तं सम्प्राप्तं न त्यजाम्यहम् ।
स्वस्थ आत्मनि तिष्ठामि यत्ममास्ति तदस्तु मे ॥
इति सञ्चिन्त्य जनको यथाप्राप्तात्म् क्रियामसौ ।
असक्तः कर्तुमुत्तस्थौ दिनम् दिनपतिर्यथा ॥

अर्थात् जिस वस्तुकी प्राप्ति मुझे नहीं हुई है या जो वस्तु मेरे पास नहीं है मैं उसकी प्राप्तिके लिये चिन्तित नहीं होता। और न मैं उसकी आकांक्षा करता हूं। और जो पदार्थ मुझे प्राप्त हो

गया है उसे मैं छोड़ता भी नहीं। इसीलिये मैं सदा निश्चिन्त होकर रहता हूं कि जो मेरा है वही सदा मेरा बनकर मेरे पास रहे। हृदयमें यही धारणा करके राजर्षि जनक अनासक्त भावसे अपना सारा काम उसी तरह करते थे जिस तरह सूर्य अनुद्विग्न होकर प्रतिदिन अपना काम स्थिर भावसे करते जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य दिनके समय अपनी ज्योतिको प्रकाशित करके संसार॰ का कल्याण करता है उसी प्रकार वे भी संसारको मङ्गल-कामनासे प्रेरित होकर संसारके हितके योग्य कामका निष्पादन करते हैं। जो जनक स्थिर भावसे कह सकते थे कि सारी मिथिला जलकर भस्म हो जाय तोभी मेरी किसी तरहकी हानि नहीं हो सकती, जो जनक अगम्य शास्त्रोंके विज्ञ होकर भी अपनेको तुच्छ और अकिञ्चन समझते रहे वे जनक इस प्रकार सहज और उदार भावसे संसारके कल्याणकी कामना करते रहे।

जिस मनुष्यने आडम्बरोंका त्याग कर दिया है और जो सरलताको स्वीकार करके प्रकृतिमें निमग्न हो गया है उसके लिये

अभिमानम् सुरापानं गौरवं रौरवस्तथा।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा॥

"अभिमान करना मदिरा पीनेके बराबर है और गौरवकी कामना करना रौरव नरकमें जानेका मार्ग प्रशस्त करना है। और प्रतिष्ठा पानेकी चेष्टा करना सूअरके मलको संगृहीत करनेके बराबर है"। जापानके नौसेनापति टोगो महाशयने इस भावको पूरी तौरसे हृदयङ्गम कर लिया था। एक दिनकी बात है कि वे

बाजारमें गये। उन्होंने देखा कि एक तस्वीर बेचनेवाला उनकी तस्वीर बेच रहा है। टोगो महाशय उसके पास गये और उसे भला बुरा सुनाते हुए कहने लगे—"मेरे सदृश अकर्मण्य मनुष्यकी फ़ोटो तुम क्यों बेच रहे हो। इतना कहकर उन्होंने उसके पाससे अपनी सभी तस्वीरें ले लीं और उनका उचित मूल्य उसे दे दिया। उनकी दृष्टिमें वास्तवमें प्रतिष्ठा सूकरके मलके समान थी क्योंकि इस तरहके भाव हृदयमें उठे विना कोई भी मनुष्य इस तरहका आचरण नहीं कर सकता। टोगो महाशयके सम्बन्धमें डेली मेल पत्रके सम्बाददाता मैक्सवेल साहबने लिखा था:—"मैं किसी स्टेशनपर भीड़में उन्हें खोज रहा था। उसी समय उनके एक अति घनिष्ठ मित्रने मुझे एक कोनेमें ले जाकर कहा गाड़ी खुलनेके चन्द मिनिट पूर्व आप उन्हें रेलवे प्लेटफार्म-पर पा सकेंगे।" उनकी अभिमानशून्यता और सादेपनको देखकर जापान निवासी उन्हें 'The Silent Adimracl "शान्ति प्रिय" नौसेनापति कहा करते थे। इसी उपाधिको लेकर जापानमें उनके सम्बन्धमें एक किंवदन्ती प्रचलित है कि "जापानमें यदि ऐसा कोई व्यक्ति है जो केवलमात्र अंगुली हिलाकर अपने अधीनस्थ जापानी सैनिकोंका सञ्चालन कर सकता है तो वह टोगो महाशय हैं।" सच बात यह है कि अहङ्कारहीन, सरल स्वभाववाले मनुष्यकी शक्ति अतुल और दुर्जय है। सारा संसार उसका सहायक है। इसलिये उसके योग्य करणीय कार्यका सम्पादन भी अतिशय सुगमतासे हो जाता है। दूसरे

लोक (परलोक) का हिसाब करके, भ्रांतिकी सम्भावनांका निरास करके कार्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। जिसने अहङ्कारके दुर्गम तथा दुर्जय किलेपर अधिकार कर लिया है, उसे छिन्न-भिन्न कर डाला है, उसके हृदयमें सारा विश्व एक बोध होने लगता है, संसारके सभी प्राणी उसे अपने प्रतीत होने लगते हैं और वह अपनेको सबमें देखने लगता है और यही कारण है कि वह स्वच्छ, सरल, अनाबिल होता है। उसको देखकर हृदयके कपाट आपसे आप खुल जाते हैं। पर साथ ही साथ सरल होकर भी वह सदा सतर्क रहता है। जिस तरह पिता पुत्रके सामने सरल और उदार प्रकृतिका होकर भी सदा सतर्क रहता है वही हालत उसकी होती है। उसके सतर्क रहनेका यह कारण है कि लोग अधिकार भेदके आधारपर वही जानते हैं जिसे जानना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इससे उसे क्षति पहुंचा सकते हैं। पर उसके उदार हृदयके संसर्गसे और उसकी प्रतिष्ठा करनेसे तुम मुग्ध हो सकते हो। संसारके साथ उसकी घनिष्ठता और मैत्री हो गई है इस बातका स्मरण करके इमर्सन महोदयके शब्दोंमें :—

He has but to open his eyes to see things in a true light and in large relations.

अर्थात् संसारकी वस्तुओंकी वास्तविक सत्ताको पहचानने तथा संसारके साथ उनके सम्बन्धको अच्छी तरह जाननेके लिये उसे केवल अपने नेत्रोंको खोलना है। एकमात्र आंखको खोलनेसे ही वह सब बातें समझ जायगा।

अहंकारहीन मनुष्य आकाशकी भांति प्रीतिकर प्रतीत होता है। जिस तरह आकाश सबको प्यारा प्रतीत होता है उसी प्रकार वह भी सबको प्यारा प्रतीत होता है। परमहंस रामकृष्णकी क्या गति। उनके पास जानेमें किसीको लेशमात्र भी सकोच नहीं होता था। जितने समय तक लोग उनके पास बैठे रहते थे लोगोंके हृदयमें यही भाव विद्यमान रहता था कि ये हमारे साथी और घनिष्ठ मित्रोंमेंसे हैं। जिसके मनमें जो बात आती थी, जो भाव उदय होते थे वह बिना किसी तरहके सङ्कोच या आशङ्काके उनके सामने प्रगट कर देता था। इस प्रकार बालक, युवा, वृद्ध, नर, नारी सभीके लिये वे आनन्द और प्रसन्नताके विषय थे। सभी उन्हें अपना मित्र समझते थे। प्रत्येक मनुष्यके साथ वे इतनी उदारता और सरलतासे मिलते थे कि मन मुग्ध हो जाता था। उनके पाससे हट जानेपर मनमें यह भाव उदय होते थे कि "हमने क्या किया है। इतने बड़े महात्माके पास जाकर कितने छोटेपनसे बात की है ?" एक दिन प्रातःस्मरणीय रामतनु लाहिरी महोदयने मुझसे कहा—"चलो एक सज्जन और श्रेष्ठजनसे तुम्हारा परिचय करा दें।" मैंने उनसे विनम्र होकर कहा—"मुझे किसी बड़े आदमीके समक्ष उपस्थित होनेमें बड़ी लज्जा लगती है और सङ्कोच मालूम होता है।" उन्होंने उत्तर दिया "जिसके निकट जानेमें मनुष्यको किसी तरहका सङ्कोच या भय उपस्थित हो उसे कभी भी बड़ा आदमी नहीं समझना चाहिये।" वास्तवमें रामतनु लाहिरी महाशय, राज-

नारायण बसु महाशय, रामकृष्ण परमहंस महाशय, विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय, स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी आदि महापुरुषोंके समक्ष जानेमें किसी तरहका सङ्कोच उत्पन्न नहीं होता था। इन महानुभावोंकी संगतिसे, उपदेश आदिसे जो लाभ होता है उन उपदेशोंका भार भी इतना भारी नहीं होता कि मनुष्य उन्हें लेकर उठ भी न सके। जिस तरह सुबह शाम हवा खानेके लिये टहलना कठिन प्रतीत नहीं होता उसी तरह इन लोगोंके पास जाकर उपदेश और शिक्षा ग्रहण करना भी कठिन प्रतीत नहीं होता बल्कि अति सहज प्रतीत होता है। जो कुछ लाभ इन लोगोंसे होता है वह अज्ञातरूपसे हम लोगोंके हृदयमें पैठकर अपना काम करता है। इस दान और ग्रहणमें एक विचित्रता और भी है कि न तो देनेवाला ही यह समझता है कि हमने कुछ अपने पाससे दिया है और न लेनेवाला ही यह समझता है कि हमें कुछ मिला है। इसी सम्बन्धमें इमर्सनने कहा है:—"It costs a beautiful person no exertion to paint her image on our eyes; yet how splendid is that benefit! It costs no more for a wise soul to convey his quality to other men." जिस प्रकार किसी सुन्दर मनुष्यको देखते ही उसके रूप लावण्यका चित्र नेत्र पटपर खिंच जाता है, उसकी मोहनी मूरत आंखोंमें समा जाती है पर उस मनुष्यको किसी तरहका प्रयास नहीं उठाना पड़ता (अर्थात् केवलमात्र उसकी उपस्थितिसे ही यह कार्य सम्पन्न ह जाता है)

पर दूसरे व्यक्तिको अतिशय लाभ और आनन्द मिलता है (लाभ इस बातसे कि नेत्रोंके पानेका तात्पर्य आज सिद्ध हो गया और आनन्द उस रूपलावण्यरूपी सुधाको पान करनेका) उसी प्रकार किसी महात्माको अपने विशुद्ध और उन्नत आत्माका ठप्पा दूसरोंके हृदयपर जमानेमें किसी तरहका प्रयास नहीं उठाना पड़ता पर इससे संसारका असीम लाभ होता है।

जिसके हृदयसे अहङ्कारका भाव लुप्त हो गया है फिर उसे मान और अपमानका भी कोई विचार नहीं रहता। लबारपन उसमें नहीं रहता, उसके हृदयमें न तो किसी तरहकी जिद्द रह जाती है और न द्वेष या वैरको ही स्थान मिलता है। उसके लिये संस्कृत-का निम्न लिखित भाव सर्वथा सत्य और उपयुक्त है :—"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।" अर्थात् वह किसीसे द्वेष नहीं रखता, संसारके सभी प्राणियोंका वह भलाई चाहनेवाला है और उनके लिये उसके हृदयमें असीम करुणाके भाव भरे हैं। यदि कोई उनके साथ वैर करता है तो वे उसे अबोध या ज्ञानरहित समझकर उसपर कृपा ही करते हैं। यदि वे देखते हैं कि उसके कल्याणके लिये शासनकी आवश्यकता है तो पिता जिस प्रकार शासन करता है उसी प्रकार उस व्यक्तिकी भलाईकी कामनासे वे भी उसके शासन करनेके लिये सयत्न होते हैं।

जिस मनुष्यके हृदयसे अहङ्कार निकल गया है वह विश्वासी है, उसकी बुद्धि स्थिर है, उसमें अभिमानका लेश भी नहीं रह गया है, उसमें किसी तरहका आडम्बर नहीं रह गया है, उसकी

प्रकृति सरल हो जाती है, उसके पास जानेमें किसी तरहका सङ्कोच नहीं होता और उसमें ईर्ष्या द्वेष नहीं रहता।

धृतिसमन्वित

सात्विक प्रवृत्तिका मनुष्य धृतियुक्त होता है। अनेक तरहकी विघ्न-बाधाओं तथा विपत्तियोंके आजानेपर भी अन्तःकरणकी प्रवृत्तियां प्रारब्ध कार्यका परित्याग नहीं करतीं। इसी भावको धृति कहते हैं। विघ्न-बाधाओं और विपत्तियोंसे घिर जानेपर भी स्थिर रहनेके लिये मनुष्यमें संयमकी आवश्यकता है। जिस मनुष्यमें संयमका अभाव है वह इस प्रकारकी विपत्तियोंसे घिर जानेपर अपने धैर्यकी रक्षा नहीं कर सकता। असंयमी पुरुषमें धीरता नहीं रहती। उसके हृदयके परदे बड़े ही कमजोर होते हैं। विघ्न-बाधाओंके साधारण धक्केको भी वे बरदाश्त नहीं कर सकते और टूटकर गिर पड़ते हैं। धृतियुक्त मनुष्य संयमी होता है। वह निडर होता है और उसमें असीम सहनशीलता होती है। कठिनसे कठिन आपत्तियोंके आनेपर, भीषणसे भीषण विघ्न-बाधाओंके उपस्थित हो जानेपर वह किसी भी तरह संत्रस्त और अधीर नहीं होता। कोई भी अनिष्टकारी अवस्था उसे अधीर बनाकर पीछे चरण हटानेके लिये प्रेरित नहीं कर सकती। यह बात बहुतोंको विदित है कि ब्राह्मधर्मका प्रचार करनेके लिये जिस समय गोस्वामी विजयकृष्णदेव स्थान स्थानपर भ्रमण कर रहे थे उस समय उन्हें साधारणसे साधारण, मोटेसे मोटे अन्नपर निर्वाह करना पड़ा था। इसके अलावा और भी अनेक

तरहके कष्ट उन्हें सहने पड़े थे। इन कष्टों और यातनाओंने किसी भी अवस्थामें इन्हें अधीर नहीं होने दिया। *जिस मनुष्यमें

*संसारमें शान्तिकी स्थापनाके लिये महात्मा गांधीकी सहनशीलताके समान अभीतक तो दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। संसारकी भभकती ज्वालाको शान्त करनेके लिये, संसारसे अनाचार और दुर्नीतिका राज्य उठा देनेके लिये वे जिस साहस और उत्साहके साथ कार्य करते हैं, उसकी सराहना नहीं की जा सकती। उनके कार्यके मार्गमें जो कठिनाइयां उपस्थित हुई उनका भी वर्णन अतिशय रोमाञ्चकारी है। अफ्रीकाके सत्याग्रह आन्दोलनसे लेकर भारतके असहयोग आन्दोलन तकका इतिहास भीषण प्रकारकी बाधाओं और विपत्तियोंका इतिहास है। कभी कभी तो उन्हींके अधीनस्थ काम करनेवाले भ्रममें पड़ गये और यह सोचने लगे कि महात्माने हमें धोखा दिया है और उनका साथ छोड़कर अलग हो गये। एक आधने तो उनका प्राण ही ले लेनेका यत्न किया था पर महात्मा इतनेपर भी विचलित न हुए। अपने मार्गपर सदा चलते रहे। असहयोग आन्दोलनके प्रचारके कारण उनपर जो अभियोग चलाया गया था उसका उन्होंने खुली अदालतमें जिस नीर्भीकताके साथ उत्तर दिया था वह संसारके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जायगा। नौकरशाहीने उन्हें जेलमें ठूंस दिया है। पर वहांसे भी उनकी यही आवाज आ रही है:—"मेरा असहयोग आन्दोलनमें पूरा विश्वास है। केवल एकमात्र इसीसे संसारका कल्याण होगा।" —अनुवादक

भूति है। वह संसारके सभी प्राणियोंमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है। उसके चारों ओर सदा शान्तिका साम्राज्य विराजमान रहता है। किसी भी अवस्थामें किसी भी कारण वह उद्विग्न या उत्तप्त नहीं हो जाता। उसे इस संसारमें किसी बातका डर नहीं है। संसारचक्रके भीषण कोलाहलमें भी वह अटल और अख्याति शान्तिका अनुभव करता है। हजारों शत्रु अनेक तरहके तीखे अस्त्र शस्त्र लेकर उसको घेरे ही क्यों न हों, शस्त्रोंकी चमचमाहट और झनकार उसके कानोंको काटती ही क्यों न हो पर वह उनके बीचमें भी अटल, अचल और स्थिर रहता है। किसी भी तरह उसकी प्रकृतिमें विकार नहीं उत्पन्न होता। कहा भी है:—

दग्धं दग्धं त्यजति न पुनः काञ्चनं दिव्यवर्णम्।
घृष्टं घृष्टं त्यजति न पुनश्चन्दनं चारुगन्धम्।
खण्डं खण्डं त्यजति न पुनः स्वादुतामिक्षुदण्डम्।
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिर्विकृतिर्जायते नोत्तमानाम्॥

बार बार जलाये और तपाये जानेपर भी सोना अपने सौन्दर्यको नहीं छोड़ता (बल्कि जितना तपाया जाता है उतना ही चमकता है।) बार बार घिसनेपर भी चन्दन अपनी स्वभावगत सुगन्धिको नहीं छोड़ता। ईख टुकड़े टुकड़े किये जानेपर भी अपने मीठेपनको नहीं छोड़ता। उसी प्रकार उत्तम पुरुषोंकी प्रकृति किसी भी अवस्थामें विकारको प्राप्त नहीं होती।

कैसी भी विपत्तियां क्यों न उपस्थित हो जायं, कितनी भी बाधाएं उपस्थित क्यों न हो जायं, धृतिमान पुरुष कभी भी उद्विग्न नहीं होता, बल्कि उलटे और अधिक उत्साह ग्रहण करता है। इसी प्रसंगको लेकर महाराज भर्तृहरिने अपने नीति-शतकमें लिखा है —

कदर्थितस्यापि हि धैर्य्यवृत्तेर्बुद्धेर्विनाशो नहि शंकनीयो ।
अधः कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

धीरप्रकृति मनुष्यकी बुद्धि उत्पीड़ित होनेपर भी किसी प्रकारसे विकृत हो सकती है इस प्रकारकी आशङ्का करना व्यर्थ है। अग्निको कितना ही नीचेकी ओर क्यों न दबाइये उसकी लपट सदा ऊपरको ही जायगी। किसी भी अवस्थामें नीचेकी तरफ नहीं जा सकती।

महापुरुष महम्मद साहबने किस प्रकृष्टतम धृतिबलका परिचय दिया था। मार्टिन लूथरने धैर्यके बलपर ही यूरोपके महा प्रतापशाली, सर्वशक्तिमान, ईश्वरतुल्य, रोमके पोपके घोषणापत्रको हजारोंकी उपस्थित जनताके समक्ष विना किसी डर भयके फाड़कर आगमें डाल दिया था। अमरीकामें जिस समय थ्यूडर पार्कर गुलामी प्रथाके प्रतिकूल आन्दोलन कर रहा था उस समयकी बात है कि अमरीकाके सहस्रों निवासी गुलामी प्रथाका प्रतिपादन और समर्थन करनेके लिये एक महती सार्वजनिक सभा कर रहे थे। वक्तागणोंने बोलते बोलते थ्यूडर पार्करका नाम लेकर कहा—"यदि आज हम लोग इस स्थानपर थ्यूडर पार्करको पा जाते तो उसकी

बोटी बोटी काट डालते।" थ्यूडर पार्कर उस सभामें उपस्थित था। विपक्षियोंके मुंहसे इतना सुनते ही वह उठ खड़ा हुआ और अपनी छाती ऊंची करके निर्भीक स्वरमें बोल उठा—"थ्यूडर पार्कर यहीं तुम लोगोंके समक्ष उपस्थित है। क्या तुम लोगोंमेंसे किसीको साहस है जो उसका बाल भी बांका कर सके।" इतना कहकर वह पूर्ण साहस और वीरताके साथ उस सभासे उठकर चला गया। सब कोई अवाक् होकर देखते रह गये। किसीसे कुछ करते न बना। धृतिमान मनुष्य कितना निर्भीक हो सकता है, इसका इससे बढ़कर दूसरा ज्वलन्त उदाहरण नहीं मिल सकता।

जिन महापुरुषोंने धर्मके लिये अथवा देशके लिये अपने अमूल्य जीवनका उत्सर्ग किया है उन लोगोंने धृतिबलका सबसे बढ़कर उदाहरण छोड़ा है। लरेन्सियस नामी एक महात्माको प्रचलित धर्मके विरुद्ध किसी धर्मपर विश्वास और आस्था रखनेके कारण प्राणदण्डकी आज्ञा हुई। उन्हें खाटपर सुला दिया गया और उसके नीचे चिता जला दी गई। उस स्थानपर उस देशके राजा भी उपस्थित थे। उनकी पीठका कुछ अंश जल भी चुका था जब उन्होंने हंसते हुए सम्राट्से कहा—"महाराज, अब मेरा जला और कच्चा दोनों प्रकारका मांस मेरे शरीरसे काटकर चखिये और देखिये किसमें किस प्रकारका स्वाद है।" क्या इससे भी बढ़कर धृतिबलका कोई ज्वलन्त उदाहरण हो सकता है?

उत्साही

सात्विक कर्तामें उत्साह असीम होता है। संसारके कल्याणकी कामनासे अथवा श्रीभगवानकी प्रसन्नताके लिये प्राणी मात्रके हितके लिये जो काम किया जाता है उसमें असीम आनन्दका स्रोत बहता है और जिस काममें आनन्दकी प्राप्तिकी सम्भावना रहती है उसके आचरणमें मनुष्यको असीम आनन्द प्राप्त होता है। इससे यह परिणाम निकला कि कर्मयोगीमें आनन्दी और उत्साही होनेके दोनों शुभ लक्षण वर्त्तमान हैं। जिनके हृदयमें उत्साह है उनको किसीके भरोसेकी परवा नहीं रहती। उन्हें अपने बाहुबलमें असीम आशा और भरोसा रहता है। उनमें साहसकी भी कमी नहीं रहती। वे सदा इस भावको धारण करते हैं :—

यदि तोर डाक् शुने केउ ना आसे,
तबे एकला चलरे,
एकला चल, एकला चल, एकला चलरे ।

* * * *

यदि सबाइ फिरे याय, ओरे ओरे ओ अभागा,
यदि गहनपथे याबार काले केउ फिरे ना चाय,
तबे पथेर कांटा
ओ तुइ रक्तमाथा चरणतले एकला दलरे ।

यदि तेरी पुकार सुनकर कोई आगे न बढ़े तो तू अकेला ही आगे बढ़। किसीकी प्रतीक्षा मत कर। अकेला ही चल। यदि कुछ दूर जाकर सभी परावृत्त हों तो वे सभी अभागे हैं और यदि कठिन मार्गपर चलनेके समय कोई मुख फेरना नहीं चाहता तो तू ही अकेला सभी आपत्तियोंको झेलकर उस मार्गके कांटोंको अपने पैरोंतले रौंद दे।

उत्साही मनुष्य सदा नया प्रतीत होता है क्योंकि साहस रहनेपर उसे सदा नये नये कर्म करणीय दृष्टिगोचर होते हैं।

मनुष्यकी यही स्वाभाविक प्रकृति है। तेज, आनन्द और नयी वस्तुको देखकर उसका मन उस तरफ खिंच जाता है। उस आकर्षणमें जिन लोगोंका संसर्ग आनन्दी तथा उत्साही पुरुषके साथ हो जाता है वे भी आनन्दित और उत्साहपूर्ण हो जाते हैं। उनके पक्षमें 'संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति' पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। यह हो सकता है कि प्रचलित प्रथामें अन्ध विश्वास रखनेवाले लोग केवल सुनने या देखने मात्रसे उसके निकट या उसके सहवासमें न आजायं पर जो उसके संसर्गमें आजायंगे उन्हें उसका प्रतिफल मिलेगा ही, इसमें सन्देह नहीं। उत्साहीके संसर्गसे गुणोंकी किस प्रकार बढ़ती होती है, सद्भाव किस प्रकार प्रगट होकर चमकने लगते हैं और उस प्रज्वलनमें कितने साहसिक काम हो गये हैं, इसके अनेक ज्वलन्त उदाहरण इतिहासमें वर्त्तमान हैं।

——

सिद्धि असिद्धिमें समभाव

—:०:—

साधारण मनुष्य जिस सिद्धिके लिये पागल हो जाता है सात्विक कर्ता उसकी कभी चिन्ता तक नहीं करता। वह जानता है कि बाह्य सिद्धि न होनेपर भी भीतरको सफलता तो अवश्य होगी। ज्ञानकी प्राप्तिसे जिस प्रकार हृदयमें ज्योतिका प्रकाश होता है, प्रेमसे जिस प्रकार आनन्दकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार कर्मसे शक्तिकी वृद्धि होती है। पुण्य कर्म करनेका पुण्य फल अवश्य ही होगा। यदि बाह्य कार्यमें सम्प्रति सफलता न मिले तोभी अन्तःशक्तिके प्रयोगके लाभका फल तो अवश्य मिलेगा। जिस समय भगवान श्रीकृष्ण सन्धिका प्रस्ताव लेकर दुर्योधनके पास जा रहे थे उस समय महामति विदुरने कहा था:-"दुर्योधन एक नहीं सुननेका, व्यर्थके लिये इस प्रस्तावसे क्या फायदा? आपकी बात न मानेगा और उपेक्षा करेगा।" उस समय भगवान श्रीकृष्णने उत्तर दिया था :—

धर्मकार्यं यतन् शक्त्या नोचेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः॥

मनुष्यको अपनी शक्तिभर सदा धर्माचरणकी चेष्टा करनी चाहिये, चाहे उसमें सफलता मिले चाहे न मिले। यदि उसका

फल नहीं मिलता तो क्या, तज्जनित जो पुण्य फल है उसकी प्राप्ति तो अवश्य ही होती है।

और साथ ही साथ बाह्य फलके सम्बन्धमें भी यही बात निश्चय है—"नेहाभिक्रमनाशोस्ति"। पश्चिमी ऋषि चेलासियावासीने कहा था—"No true effort can be lost." यदि किसीने सच्चे दिलसे किसी कामको करनेको चेष्टा की है तो वह निष्फल नहीं हो सकता। इन सब बातोंको देख सुनकर क्या फिर भी कोई अपने जीवनमें किये कार्यके फलाफलको देखनेका विचार कर सकता है? न जाने जीवनकी किस धारामें, किस समयमें किस कार्यका फल मिलेगा इसका पता तो हमारी क्षुद्र दृष्टिको नहीं लग सकता। किनारेपर खड़े होकर मैंने अगाध जलराशिवाले तालावमें एक ढेला फेंका। मैं देखता हूं कि ढेला फेंकनेसे जलराशि आन्दोलित हो उठी और उसमें तरङ्गोंपर तरङ्गें उठने लगीं, पर कहीं न कहीं जाकर वे सब विलीन हो गईं। पर मैं इसका पता नहीं वतला सकता कि उनका क्या हुआ। उसी प्रकार मानवरूपी सागरके कर्मरूपी इस अगाध जलराशिमें हमारी क्षुद्र चेष्टाएं कितनी लहर उठावेंगी और वह कहां जाकर विलीन हो जायंगी इसकी धारणा क्या मैं कर सकता हूं। पर इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि वह चेष्टा विफल हो गई। यदि वह आज विफल हुई तो कल वही फलवती भी होगी। आज जिस श्रममें हमें असफलता मिली है कल उसीमें हम सफलमनोरथ होंगे। धर्माचरण

असफल होकर भी सफलताका मार्ग दिखलाता है और अन्तमें सफलताको भी लाकर सामने रख देता है। इटालीकी स्वाधीनताका उदाहरण ले लीजिये। प्रजातन्त्रवादियोंकी चेष्टाएं अनेक बार विफल हुईं। विदेशी शक्तियोंके सामने उन्हें अनेक बार हार खानी पड़ी, पर इस हारका परिणाम क्या हुआ? प्रत्येक बार उनकी शक्तिमें कुछ न कुछ नया बल अवश्य आया। अन्तमें उन्होंने विजय लाभ की। इङ्गलैण्डमें प्रजातन्त्रकी स्थापना क्या एक दिनमें हो गई? राजाके विशिष्ट अधिकारोंके साथ भीषण संग्राम करना पड़ा। अनेक बार पराभवका फल चखना पड़ा। तब कहीं अन्तमें जाकर सफलता मिली। इसीपर लार्ड बाइरनने लिखा भी है—

——Freedom's battle once begun,
Bequeath'd from bleeding sire to son,
Though baffled oft is ever won."

जब एक बार स्वाधीनताके लिये संग्राम छिड़ गया तो रक्तपात होता ही रहेगा। सम्भव है कि यह युद्ध कई पीढ़ियोंतक चलता रहे पर अन्तमें विजयकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। यह बात इस प्रकारकी स्वतन्त्रताके लिये है, चाहे वह सामाजिक स्वतन्त्रता हो या राजनीतिक स्वतन्त्रता हो या धार्मिक स्वतन्त्रता हो। चाहे बन्धन इस लोकका हो चाहे परलोकका हो, दोनों प्रकारके बन्धनोंसे मुक्ति पानेकी चेष्टा असफल होती होती किसी न किसी दिन तो अवश्य ही फलवती होगी। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन

आयर्लैंण्डको होमरूल दे देना चाहते थे। उन्होंने उसके लिये घोर प्रयत्न किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली। वे सदा व्यर्थ-प्रयत्न होते रहे। कर्ताकी कृपासे आज वही चेष्टा फलोन्मुखी हो रही है। महात्मा ईसाके जीवनका उदाहरण ले लीजिये। जो ईसाई धर्म आज विश्वव्यापी हो रहा है, संसारके कोने कोनेमें छा रहा है उस ईसाई धर्मको ईसाके जीवन कालमें कितनी सफलता मिली थी? इसी धर्मको शिक्षा देनेके लिये ईसा शूलीपर चढ़ाये गये थे। पर आज वही धर्म किस प्रकार फल फूल रहा है। इससे परिणाम निकला कि सिद्धिके लिये वे ही लोग उद्विग्न होते हैं जो लोग कार्यका सञ्चालन "धनं देहि, यशो देहि, द्विषो जहि" अर्थात् धन, यश, मर्यादाकी वर्षा करो और शत्रुओंका नाश करो, इस अभिलाषासे भगवानके पास प्रार्थना लेकर उपस्थित होते हैं। पर जो मनुष्य इस प्रकारके सकाम भावको त्याग करनेमें सफल हो सके हैं वे कहते हैं:—"यह संसार जिसका है उसके विधानके अनुकूल जो कार्य समझ पड़े उसीको करते रहना हमारा धर्म है, फलाफलका विचार उसके हाथमें है। इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं। यदि किसी जमींदारने हमें अपने मुकदमेका पैरवोकार बना दिया है तो हम उस मुकदमेकी पैरवी करेंगे। हम सदा इस बातकी चेष्टा करेंगे कि हमारी तरफसे किसी बातकी त्रुटि नहीं होती, पर मुकदमेकी हार और जीतसे हमसे क्या सम्बन्ध? और जहां वही न्यायकर्ता भी है जिसका मुकदमा है वहां तो कुछ कहना

ही नहीं है। वह अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जो फैसला कर सकता है, चाहे डिग्री दे दे चाहे हरा दे। हम तो केवल इतना ही चाहते हैं कि उसकी इतनी कृपा हमारे ऊपर बनी रहे कि न तो किसी ठांवपर हमसे भूल हो और न आलस्य तथा प्रमादके वशीभूत होकर हम किसी कामको करनेमें ढिलाई कर दें। यदि हमारी पूर्ण विवेचनाके बाद भी हमारी बुद्धि भूल करती है तो उसके संशोधन करनेका भार तुम्हारे ऊपर है। क्योंकि तुम अन्तर्दर्शी हो, सभी बातोंको जानते हो। और संसारके कल्याणका भार भी तुम्हारे ही ऊपर है। कर्मफलमें भी तुम्हारा ही अधिकार है। हम तो केवल तुम्हारे चरणोंके दास हैं। उन्हीं चरणकमलोंका सहारा लेकर मनसा वाचा और कर्मणा संसारकी मङ्गल कामनासे सदा कार्य करते रहेंगे। इसी मन्त्रपर अर्जुनको अधिष्ठित करनेकी इच्छासे भगवान श्रीकृष्णने कहा थाः—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्माणि ।।

तुम्हें एकमात्र केवल कर्म करनेका अधिकार है, उस कर्मका फल क्या होगा इसको जाननेका तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। फलप्राप्तिकी कामनासे तुम्हें कोई काम नहीं करना चाहिये।

योगस्थःकुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिध्यसिध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

हे अर्जुन! फलप्राप्तिकी कामनाको छोड़कर कर्म करनेकी

चेष्टा कर। वे ही सच्चे कर्मयोगी हैं जो सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें एक भावसे रहते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

सम्पूर्ण कर्मोंको हममें अर्पण करके अध्यात्मचेतसा अर्थात् हम हर तरहसे अन्तर्यामीके अधीन होकर काम कर रहे हैं यह भाव हृदयमें धारण करके और उस कर्मसे किसी प्रकारके लाभ आदिकी आशाकी सम्भावना न रखके विकारहीन होकर युद्ध करो।

यह बात केवल धर्मयुद्धके लिये ही उचित नहीं है। संसारके सभी प्रकारके कर्मोंके लिये इसी तरहकी धारणा रखकर युद्ध करना होगा।

महाराज युधिष्ठिर मनसा वाचा तथा कर्मणा इसी प्रकारके कर्मयोगी थे। उन्होंने द्रौपदीसे कहा थाः—

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।

ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥

अस्तुवात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।

गृहे वा वसता कृष्णे ! यथाशक्ति करोमि तत् ॥

धर्मञ्चरामि सुश्रोणि ! न धर्मफलकारणात् ।

आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥

धर्म एव मनः कृष्णे ! स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥

हे राजपुत्रि ! मैं तुमसे हृदयकी बात कहता हूं। जो कुछ मैं करता हूं उसके फलप्राप्तिकी मैं कभी भी कामना नहीं करता। इतना जानता हूं कि देना होता है इसलिये देता हूं, यज्ञ करना होता है इसलिये यज्ञ करता हूं। हे कृष्णे (द्रौपदी फलाफलका मैं कभी भी विचार नहीं करता। किसी तरहकी फलप्राप्ति हो या न हो, पर मैं सदा उन कार्यों के निष्पादन करनेकी चेष्टा करता हूं जो किसी गृहस्थको करने चाहियें। वेदविहित विधियोंका अतिक्रम न हो इस बातको सदा दृष्टिपथमें रखकर और साधु महात्माओंके आचरणका सदा अनुकरण करते हुए मैं जो धर्माचरण करता हूं उसके लिये मैं कभी भी किसी तरहके फलकी आकांक्षा नहीं रखता। प्रकृतिसे ही मेरा मन हे कृष्णे ! धर्मकी ओर झुक गया है। जो लोग फलप्राप्तिकी कामनासे धर्माचरण करते हैं वे लोग धर्मको बाजारू सौदा समझ बैठे हैं और इसलिये धर्मके अनन्य पक्षपाती लोग उन्हें अतिशय निकृष्ट दर्जेका जीव समझते हैं। टेनिसनने कहा भी है:—

"To live by law,
Acting the law we live by without fear,
And because right is right to follow right
Were wisdom in the score of consequence."

विधि विधान तथा नियमके अनुसार रहना चाहिये क्योंकि विधि विधान तथा न्यायके अनुसरणमें फिर किसी बातका भय नहीं रह जाता। और चूंकि न्यायपथ सदा धर्म-पथ है इसलिये परिणामका कभी ख्याल न कर न्यायका आचरण करना ही बुद्धिमानी है।

प्रकृत मनीषी जो कुछ करते हैं सभीमें सिद्धि अथवा असिद्धि का चिन्ता नहीं रखते, उससे सर्वथा उदासीन होकर काम करते हैं।

संसार क्रीड़ाक्षेत्र है

यहांतक हमने अनेक लक्षणोंसे कर्मयोगीकी पहचान बतलाई। जिस व्यक्तिमें ये सब उपरोक्त लक्षण वर्तमान हों उसका काम नाटकके पात्रके अभिनयसे भिन्न क्या हो सकता है। उसका कोई भी कार्य स्वार्थसे प्रेरित होकर नहीं होता। नाटकके पात्रको ले लीजिये। जिस समय वह रङ्गमञ्चपर आता है उस समय उसे न तो द्रव्यका लालच रहता है और न प्रशंसाका प्रलोभन। उसकी सारी चेष्टाएं केवलमात्र दर्शकोंको सन्तुष्ट करनेके लिये होती हैं। इस प्रकार नाटकके पात्रकी लीलाका तत्व समझ लेनेपर कर्मयोगीके अभिनय-तत्वको समझनेमें आसानी होगी। नाटकके पात्रकी भांति कर्मयोगी निःस्वार्थ भावसे विष्णुके प्रसन्नतार्थ तथा संसारके कल्याणकी कामनासे प्राणपणसे इस संसारमें लीलाभिनय करते हैं।

ऋषिपुंगव महर्षि वशिष्ठने संसारमें विचरण करनेके निमित्त जो उपदेश श्री रामचन्द्रजीको दिया था उसीके अनुसार कर्मयोगी भी इस संसारमें रहकर कर्म करता जाता है। मुनिजीने कहा थाः—

पूर्णां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम्।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर राघव॥

देह आदि इन्द्रियां तथा अन्नपानादि हमारे प्राणस्वरूप हैं, पुत्र, मित्र, कलत्र तथा धनधान्यादि सब हमारे हैं, इस प्रकारके जो आकर्षण करनेवाले भाव मनुष्यके हृदयमें वर्तमान हैं उन्हें वासना कहते हैं। इन भावोंके त्यागको "ध्येय वासना" का त्याग कहते हैं। हे रामचन्द्रजी! ध्येयवासनाके त्यागसे जिस असीम आनन्दकी उपलब्धि हो सकती है उसे ही दृष्टिपथपर रखकर जन्म तथा मरणकी चिन्ता न कर संसारयात्रा करो।

अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव॥

हे रामचन्द्रजी! हृदयके अन्तःस्थित सम्पूर्ण आशा, आसक्ति तथा वासनाका त्याग करके बाह्य जगतके सभी कार्योंको करते रहो।

अन्तर्नैराश्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः।
बहिस्तप्तोऽन्तराशीतो लोके विहर राघव॥

हे रामचन्द्रजी! भीतर तो निराशाके घोर अन्धकारको बसाकर बाहरी जगतकी आशाको प्रथम स्थान देकर और उसीमें उत्फुल्ल होकर कार्य सम्पादन करते रहनेसे अन्तर्हृदय उद्वेगरहित रहता है और इसलिये शीतल रहता है और बाह्य उद्वेगसहित रहता है इसलिये तप्त रहता है। इसी प्रकारका कार्य करते रहो

कृत्रिमोल्लासहर्षस्थः कृत्रिमोद्वेगगर्हणः।
कृत्रिमारम्भसंरम्भो लोके विहर राघव॥

हे रामचन्द्र जी ! कार्यके अनुसार किसी कार्यके संबन्धमें बनावटी उल्लास और हर्ष दिखाकर और किसी कार्यके सबंधमें बनावटी उद्वेग तथा निन्दाका भाव दिखाकर कार्य सञ्चालन करो।

बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।

कर्ता बहिरकर्तान्तः लोके विहर राघव ॥

हे रामचन्द्रजी ! अन्तः हृदयमें किसी तरहके आवेगको स्थान न देकर और बाहरी बनावटी आवेग दिखाकर, अन्तः हृदयसे उदासीन होकर, बाहर सञ्चालक होकर संसारका कार्य सम्पादन करो।

सच्चा कर्मयोगी यद्यपि कार्योंका सम्पादन करता रहता है तथापि वह अपनेको कर्ता नहीं समझता। इसलिये उसकी दृष्टिमें सारी वृत्ति समान है। वह किसीको भी घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखता। इसी प्रसंगको लेकर भगवान श्रीरामचन्द्रजीको महाराज वशिष्ठने उपदेश दिया है :—

आशापाशशतोन्मुक्तः समः सर्वासु वृत्तिषु ।

बहिः प्रकृतिकार्यस्थो लोके विहर राघव ॥

हे रामचन्द्रजी ! हजारों प्रकारकी आशाओंके बन्धनको तोड़कर और सभी अवस्थाओंमें एकसा रहकर बाहर अपनी प्रकृतिके अनुसार कार्य करके संसारका सञ्चालन करो ।

जो इस अभिनयके उपदेशक हैं वही भगवान आनन्दकन्द

इसके निरीक्षक हैं। इसका उद्देश्य या तो इसकी लीलाकी पुष्टि है अथवा संसारके कल्याणकी कामना है अर्थात् सच्चिदानन्द प्रभुकी प्रतिष्ठा। उसके लिये अभिनय करनेवालेके हृदयमें आन्तरिकताकी पराकाष्ठा रहनी चाहिये।

इस प्रकारकी आन्तरिकता होनेपर अहङ्कारमय, वासनात्यागी, आकाशशोभन, जीवन्मुक्त अभिनेताको कर्म साधनाके हेतु चिन्तासे विह्वल होनेकी आवश्यकता नहीं रहती। चिन्ता केवल उन मनुष्योंको सताती है जिनकी बुद्धि एक बार तो विकसित होती है और दूसरी बार कुण्ठित हो जाती है।

नास्तमेति न चोदेति यश्चिदाकाशवन्महान्।

सर्वं सम्पश्यति स्वस्थः स्वस्थो भूमितलं यथा॥

जो आकाशकी भांति महान् है, उसका न तो उदय है और न कभी अस्त है, वह सदा प्रकाशमय है। इस प्रकारके सुस्थ अविकल व्यक्ति पृथ्वीकी भांति सुस्थ रहते हैं।

युक्तायुक्तदशाग्रस्तमाशोपहतचेष्टितम्।

जानाति लोकदृष्टान्तं करकोटरबिल्ववत्॥

जो मनुष्य सदा उचित और अनुचितकी चिन्तामें व्याकुल रहता है और जिसकी सारी चेष्टाएं आशासे प्रेरित हैं, वह हथेलीपर रखे बेलकी भांति सब बातोंको प्रत्यक्ष करता है। निदान इस प्रकारके व्यक्तिको किसी भी कार्यके सम्बन्धमें देश, काल तथा पारिपार्श्विक अवस्थाकी पर्यालोचना, सर्वतो भावसे परीक्षा,

सुविचार, सुमन्त्रणा, साधनाके उपायकी उद्भावना तथा यथा-नियम और पूर्णरूपसे कार्यकी सिद्धि प्राप्त करनेमें किसी प्रकारका प्रयास नहीं करना होता।

उपसंहार

कर्मयोगीका क्या लक्ष्य है, कर्मकेन्द्र कहां है, उसका लक्षण क्या है, कर्माभिनय किस तरहका होता है, इन बातोंकी आलोचना संक्षेपमें की गई है। पर इस तरहके आचरण करनेवाले कर्मयोगी बरले ही देखनेमें आते हैं। अधिकांश जनसंख्या तो राजस या तामस कार्याचरण करनेवालोंकी है। राजसी कर्मके लक्षणः—

यत्तुकामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥

जो कर्म फलप्राप्तिकी कामनासे, अहङ्कारके साथ और बड़ी ही धूम धामसे किया जाता है उसे 'राजस कर्म' कहते हैं।

अहङ्कार जहां विद्यमान है वहां स्वभावमें सरलता नहीं आ सकती। जब स्वभावमें सरलता नहीं है तो काम भी सहज नहीं होगा। अब हमको हरेक कामका हिसाब किताब रखना पड़ता है, इससे बुद्धिमें बनियौटी या बनियांपन आजाता है। बनियांपन आजानेसे सहज काम भी कठिन हो जाता है। उस समय दूसरोंके रुपयोंकी तरफ तृष्णा बढ़ती है, अपने रुपयेको जोरसे पकड़े रहनेकी इच्छा होती है, उसे त्यागते भय और दुःख प्रतीत होता है। जहां अहङ्कार है वहां दूसरोंके सतानेकी अभिलाषा स्वभावतः उत्पन्न होती है। अहङ्कारजनित दम्भ और आसक्तिकी उत्पत्तिका यही कारण है।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है–

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

जो कर्ममें आसक्त हैं, कर्मफलकी कामनासे ही कर्म करते हैं, दूसरेके धनके अपनानेके लोलुप हैं, लोभ इतना अधिक है कि एक पैसा भी जेबसे निकालना कठिन है, दूसरोंके सतानेकी सदा चेष्टा किया करते हैं, अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, अभी सिद्धिमें प्रसन्न और असिद्धिमें दुःखी हो जाते हैं, जो लोग इन उपरोक्त आचरणोंसे युक्त हैं उन्हें राजस कर्ता कहा जाता है।

राजस कर्म और राजसीकर्म करनेवाले मनुष्यके लक्षणका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराके अब भगवान श्रीकृष्ण तामस कर्ता और तामस कर्मके लक्षण वर्णन करते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत्तामसमुच्यते ॥

जो मनुष्य बिना इस बातको समझे ही काम करने लग जाता है कि इस कामका भविष्यमें क्या परिणाम होगा, इसमें कितनी शक्तिका नाश और अपव्यय होगा, आर्थिक क्षति कितनी भीषण होगी, इस कार्यसे कितने लोगोंको कष्ट होगा और अपनी शक्तिका कितना ह्रास होगा, उसीको तामस कर्ता कहते हैं।

और भी

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

जो मनुष्य अनवहित, विवेकशून्य, उद्दण्ड, शठ, दूसरोंकी जीविकोपहरणमें दत्तचित्त रहता है, आलस्ययुक्त रहता है और काम करनेमें बड़ी सुस्ती दिखाता है, वह तामस कर्ता कहलाता है।

राजस और तामस कर्ताके जो लक्षण दिये गये हैं उनसे तुलना करनेपर विदित होता है कि पश्चिमी अर्थात् युरोप देशके निवासीगण राजस कर्ता हैं। क्योंकि जिस प्रकार उनके बल, पराक्रम, साहस और सम्पत्तिकी वृद्धि हुई उसी प्रकार उनके भीतर दम्भ और अहङ्कारका भाव भी बढ़ता गया है और वे लोग सदा राजसी वृत्तिसे उत्पन्न विषय वासनाके उपभोगमें लगे रहते हैं। जिस समय उनकी देह सदनुष्ठान करनेमें भी प्रवृत रहती है उस समय बहुधा उसमेंसे राजसी प्रवृत्तिकी महक आती है। लोग लाखों रुपयोंका दान इस अभिलाषासे प्रेरित होकर करते हैं कि राजाकी दृष्टिमें उनका सम्मान हो, प्रजाके हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा भक्ति बढ़े। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सात्विक प्रवृत्तिका सर्वथा लोप हो गया है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि रजोगुणसे उत्पन्न वृत्तियोंकी वृद्धि और उनका विकास सीमासे कहीं अधिक बढ़ गया है। कर्मचक्रके सञ्चालनमें सात्विक प्रवृत्तिजनित शान्ति तथा नीरवताका बहुत कुछ लोप हो गया है। यह अवस्था देखकर उनमेंसे कई एक विचारवान पुरुषोंने इस बातकी अतिशय चेष्टा की कि इन लोगोंमें सात्विक प्रवृत्तिका पुनरागम या पुनर्जन्म हो जाय। आज भी

उसी तरहके अनेक महापुरुष इस बातकी चेष्टा कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सात्विक भाव धीरे धीरे बढ़ती प्राप्त करता जा रहा है। इससे अब भारतवर्ष, चीन तथा अन्य देशोंके प्राचीन समयके महर्षिगणोंकी अध्यात्मचिन्ताओंकी प्रतिष्ठा आज पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गई है। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुरको 'नोबुल प्राइज' मिलनेका यही साधन हुआ है। तामसी प्रवृत्ति उन लोगोंमें कहीं कम है। तामसी प्रवृत्तिवाले मनुष्यके जो लक्षण हैं अर्थात् आलस्य, विषाद और दीर्घसूत्रता (काम करनेमें ढिलाई) वह इनके बीच बहुत ही कम देखनेमें आते हैं। इनमें राजसी प्रवृत्तिका भाव ही अधिकांश दृष्टिगोचर होता है। यह राजसी प्रवृत्तिका ही प्रसाद है कि इन लोगोंमें इस प्रकारका परस्पर संघर्ष उपस्थित हो रहा है। पर बीच बीचमें सात्विक प्रवृत्तिका भी कहीं कहींसे सुमधुर राग नेतागणको अपनी ओर आकृष्ट करेगा और वे कर्मयोगके मार्गमें आगे बढ़नेमें समर्थ होंगे। यदि उन लोगोंकी इस प्रकार उन्नति न होगी तो वे राजसी प्रवृत्तिसे तामसी प्रवृत्तिके पदपर गिर जायंगे। कर्ताके लीला-चक्रपर चढ़नेके बाद फिर कोई भी व्यक्ति एक स्थानपर स्थिर नहीं रह सकता। चाहे वह ऊपरकी ओर बढ़े या नीचेकी ओर गिरे। जो भीषण संग्राम, जो परस्पर स्वार्थसंघर्ष इस समय चल रहा है सम्भव है इसका अन्तिम परिणाम कल्याणकर ही हो। सुदूर विचार करनेपर जिस कल्याणकी आशाकी किरणें दृष्टिगोचर

होती हैं उनके विषयमें तो लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिये पर अधिक सुदूरपर दृष्टि रखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो अवस्था चल रही है उसका पर्यवेक्षण करके तो यही कहना पड़ता है कि थोड़े ही दिनोंमें वे लोग अपनी मूर्खताको समझ जायंगे और फिर चेष्टा करेंगे कि वे लोग यथासाध्य सात्विक प्रवृत्तिका अवलम्बन करें।

थोड़ासा ही अनुसन्धान करनेपर विदित हो जाता है कि हम लोगोंके बीचमें अनेकों तामसिक प्रवृत्तिके जीव हैं। तामसी प्रवृत्तिके लोग न तो अपना कल्याण कर सकते हैं और न दूसरों-के कल्याणकी कामना करते हैं। अपने लाभके लिये जो काम होते हैं उनमें तो वे अनवहित, विवेकशून्य, आलसी, विवादी और दीर्घसूत्री होते हैं और दूसरोंके लाभके सम्बन्धमें अनम्र (उद्दण्ड) शठ और दूसरोंकी जीविकाको सदा अपहरण करनेकी चेष्टामें तत्पर रहते हैं। यदि हमारे देश (भारतवर्ष) के भूतपूर्व राजा लोग इस तरहकी तामसिक वृत्तिके वशीभूत न हो गये होते तो यह देश इतना पतित न हो गया होता और यदि हमलोगोंमें यह भाव न रहता तो हमलोग इस तरहसे पतित न पड़े रहते। हमलोगों-में से अनेक ऐसे हैं जो न तो अपने मङ्गल और कल्याणको सम-झते हैं और न उसकी प्राप्तिकी कामना करते हैं। पर ईर्ष्या और द्वेषके वशमें होकर दूसरोंकी जीविकाका अपहरण करने और उनको हरतरहसे हानि पहुंचानेकी चेष्टा करते हैं। क्या यह बात सत्य नहीं है? आज ग्रामोंकी क्या अवस्था है। प्रत्येक ग्रामके

निवासी आज एक दूसरेके साथ परस्पर कलहमें रत रहते हैं, एक दूसरेकी बढ़ती देखकर जलते हैं, परस्पर क्षति पहुंचानेकी चेष्टा किया करते हैं। क्या यह बातें तामसिक प्रवृत्तिकी सूचक नहीं हैं ? हम जो काम कर रहे हैं उसका फल शुभ होगा या अशुभ इसका साधरण ज्ञान भी क्या हमें नहीं है ? किसीको हानि पहुंचानेके निमित्त शक्ति, धन, अर्थ क्षय करके क्या अनेक जातियां अपने हाथों ही अपनी हानि नहीं कर रही हैं ? जिन्हें हम अशिक्षित कहते हैं उन लोगोंकी बातें तो दूर रहने दीजिये, जिन लोगोंको हम पढ़े लिखे सुशिक्षित कहते हैं उनके बीचमें भी ऐसे बहुत उदाहरण देखे जाते हैं कि दूसरोंको क्षति पहुंचानेके लिये वे सदा अपनी हानि करते हैं और करते आये हैं। अनेक उदाहरण वर्तमान हैं जहां लोग अपनी ईर्ष्याजनित वृत्तिसे प्रेरित होकर दूसरोंको क्षति पहुंचानेके हेतु कठिन परिश्रमसे कमाये अपने चिरसञ्चित द्रव्यको पानीकी तरह बहा देते हैं और अन्तमें आप स्वयं इस अवस्थाको पहुंच जाते हैं कि पेटभर अन्न मिलनेका भी उन्हें ठिकाना नहीं रह जाता।* जिसने कुछ धन

---

*आजदिन देहातोंकी ठीक यही हालत है। किसानोंकी अवस्था तो किसीसे छिपी नहीं है। यदि सालमें पूरे ३६० दिन उन्हें दोनों वक्त पेटभर भोजन मयस्सर हो जाय तो यह उनके लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। कमाई उनकी कितनी कठिन होती है कि स्मरणकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। न तो ये किसान दिनको दिन समझते हैं न रातको रात। जेठकी कड़ी धूप इनके

उपार्जित भी कर लिया है वह साराका सारा अदालतोंके लिये स्टाम्प, वकील साहबको फीस, अमलोंको खुश करनेके लिये पान पत्ते, गवाहोंकी खुराकी, अर्दली, पेशकार और चपरासीको घूस देनेमें समाप्त कर देता है। इसीको तामस प्रवृत्तिसे प्रेरित स्वार्थ-त्याग कहते हैं।

पर तामसिक प्रवृत्तिकी छाया विद्यमान रहते भी यहांके अधिकारीगण सात्विकताको सर्वथा भूल नहीं जाते। ऋषि मुनि तथा भक्तगणोंने इस देशके जलवायुमें सात्विकताके भावको इतनी दृढ़ताके साथ भर दिया है कि आज भी कोई साधारण किसान भी यदि तीर्थाटन करके आता है और यदि उससे कोई पूछता है कि तीर्थयात्राकी कुछ बातें बतलाओ तो वह उसके लिये तैयार नहीं होता। पर धीरे धीरे उसके हृदयमें इस बातका अभिमान उठने लगता है कि हमने अमुक अमुक तीर्थस्थानोंकी यात्रा की है। यदि किसीसे पूछिये कि क्या ये पुत्र कन्या आपके ही हैं तो वह बड़ीही सरलतासे उत्तर देता है-"सब ईश्वरके जीव हैं,मेरा क्या है? भगवानकी आज्ञाका पालन करके हम भी इनकी देखभाल कर रहे

लिये जाड़ेकी सुखकर रश्मि, जाड़ेकी ठंडक गर्मीकी शीतल वायु और बरसातका पानी शीतल स्नान है। इस तरह रात दिन कठिन परिश्रमसे कमाई सम्पत्तिको वे लोग बिना किसी शोच विचार और चिन्ताके जरा जरासी बातपर लड़ भिड़कर थानेदारों, इन्स्पेक्टरों और वकील मुख्तारोंके हवाले करते हैं।

अनुवादक

हैं। कितने ही ऐसे लोग हैं जो अपनी ख्यातिसे बड़े ही डरते हैं। लाखों रुपयोंका गुप्त रूपसे दान कर देते हैं पर यदि किसी भी पत्र या अन्य स्थानमें उनके नाम प्रकाशित कर दिये जायं तो वे दुखी हो उठते हैं। वे चुपचाप अज्ञातवासमें रहकर अपना काम करते रहना चाहते हैं। ऋषिगणोंके चरणोंकी धूरिसे पवित्र की हुई इस भूमिपर आज भी सात्विक भाव सर्वथा लुप्त नहीं हो गया है। इसीलिये भगवानने अपनी असीम प्रेरणासे आज भी सात्विक भावको छिपाकर किसी न किसी कोनेमें रख छोड़ा है यद्यपि उसका प्रकाश थोड़ाही देखनेमें आता है। राजसी वृत्ति भी हम लोगोंमें कमही देखनेमें आती है। इस समय हृदय यही कह रहा है, हम लोगोंमेंसे तामसी वृत्ति निकलेगी और राजसी वृत्तिका उदय होगा। असावधानी, उदासीनता, मोह, जड़ता, धीरे धीरे दूर हो रहे हैं। चारों ओरसे उठो, जागोका तुमुल रव सुनाई दे रहा है। भिन्न भिन्न प्रदेश, भिन्न भिन्न लोग, भिन्न भिन्न सम्प्रदायके लोग आज एक दूसरेकी सहायता करनेको उठ रहे हैं।*

*हिन्दू, मुसलमान और सिखोंका मेल वर्तमान युगकी एकताका सबसे ज्वलन्त उदाहरण है। इन जातियोंका परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और कलह इतिहासप्रसिद्ध है। यहांतक कि भारतको गुलामीकी बेड़ीमें जकड़कर रखनेमें इस भावने अंग्रेज जातिकी असीम सहायता की थी। अंग्रेजोंके भारत शासनकी यही नीति थी कि एकको दूसरेसे लड़ाकर दोनोंपर शासन करो। ये दोनों जातियां भी एक दूसरेका नाश करनेके लिये इस तरह कटिबद्ध हो गई

इस समय देशमें एक तरहकी विचित्र जागृति हो उठी है। भगवानने हमारी सहायताके लिये हाथ फैला दिया है। उसने देख लिया है कि हम अवनति और दुर्दशाकी अन्तिम सीढ़ी तक पहुंच गये हैं और इसीलिये उसका सिंहासन डोल गया है। जिनको सुननेकी शक्ति है वे एकान्तमें कहींसे अनवरत धारामें बहती हुई "अब मत डरो, डरका कारण गया" की अनन्त ध्वनि सुन रहे हैं। जिनको देखनेकी शक्ति है उन्होंने उषाकी प्रकाशमय किरणोंको देख लिया है। जिस अलौकिक ज्योतिका प्रकाश इस पुण्य भूमिपर होनेवाला है उसके आगमनको सूचित करनेके लिये

थीं कि सारा भारत यही समझता था कि इनमें संयोग हो ही नहीं सकता। पर इस समयने अपना प्रभाव विचित्र रूपसे दिखाया। ये जातियां अपने जन्मजन्मान्तरके भेदभावको भूल गईं और एक दूसरेके साथ इस प्रकार हिलमिल गईं कि बाहरी देखनेवाला उन्हें परस्पर विरोधी कह ही नहीं सकता। यहांतक कि जिस धार्मिक भेदभावके कारण यह घोर वैमनस्य और द्वन्द्व छिड़ता था वही भाव अब परस्पर प्रेम और सहानुभूतिका कारण हो रहा है। अर्थात् इस समय खिलाफत (मुसलमान धर्म) पर आघात हिन्दू और सिख दोनोंको असह्य हो रहा है और इसकी रक्षाके लिये वे मुसलमानोंके साथ एक पांतिमें खड़े हैं। इस समय खिलाफतका प्रश्न स्वराज्यका प्रश्न हो रहा है। अकाली आन्दोलनकी भी यही गति है। अकालियोंके साथ धन जनसे हिन्दू और मुसलमान तैयार हैं। अनुवादक

तथा हमें आशान्वित करनेके लिये ये अग्रदूत बनकर उपस्थित हो रहे हैं। इन कल्पनाओंको समीचीन प्रकारसे हृदयङ्गम करके वृद्ध जनोंके हृदयमें भी एक बार स्फूर्ति उत्पन्न हो जा रही है, हृदय प्रफुल्ल हो रहा है, प्रत्येक नसमें रक्तकी धारा और भी तेज होकर बहने लगती है, पर साथ ही साथ हृदय भयभीत होकर कम्पित भी हो उठता है कि कहीं रजोगुणका प्रभाव इतना प्रबल न हो जाय कि इस देशकी विशेषताओंका वह नाश कर दे। इसी-लिये भगवानके श्रीचरणोंमें मस्तक नवाकर प्रार्थना करते हैं कि हे महाप्रभु! इस देशमें बसनेवाली किसी भी प्रजाकी बुद्धिमें हिंसा और द्वेषकी वृत्ति न आने देना जिससे अन्तः हृदय तो शून्यका शून्य रह जाय और बाह्य उन्नतिके मोहमें हम फंसे रहें। भगवन्! ऐसी प्रेरणा करो जिससे हमलोग ऋषिमुनियोंकी निर्दिष्ट सात्विक प्रवृत्तिको अपने लक्ष्यमें रखकर शुभेच्छाकी प्रेरणासे समस्त संसारको परिवेष्टित करके सच्चिदानन्दकी प्रतिष्ठाकी प्रेरणा करते हुए, अपनी उन्नति करनेमें सदा लवलीन और सफल होते रहें। व्यक्तिगत, जातिगत, राष्ट्रगत जितनी प्रकारकी चेष्टाएं और जितने उद्यम हैं उनको करते समय हमारे मनमें सदा भाग-वद्गीताका यही भाव विद्यमान रहे कि:—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

स्वामी विवेकानन्दने जिस आशाका प्रकाशन किया था वह परिपूर्ण हो, हमारी आशा फलवती हो। भारत एक बार

पुनः कर्मयोगमें प्रवृत्त हो और उसकी सन्तान फिर एक बार हंस हंसकर गावें:—

आगया है कर्मयुग कुछ कर्म करना सीख लो ।
निज जातिपर निज देशपर हंस हंसके मरना सीख लो ॥
मारनेका नाम मत लो आप मरना सीख लो ।
कृष्ण-जन्म-स्थानमें हंसकर विचरना सीख लो ॥

हिन्दी पुस्तक माला ।

उद्देश्य

सुलभ मूल्यमें सत्साहित्यका प्रचार करनाही इस मालाका मुख्य उद्देश्य है । इसमें धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा समालोचनात्मक सभी प्रकारका साहित्य प्रकाशित होगा ।

स्थायी ग्राहकोंके नियम ।

१ जो हिन्दी-प्रेमी सज्जन पुस्तक मालाके स्थायी ग्राहक बनेंगे उन्हें इसमें प्रकाशित सब पुस्तकें पौने मूल्यमें दी जायंगी ।

२ । स्थायी ग्राहक बननेके लिये ॥) प्रवेश फी जमा करनी होगी ।

३ । स्थायी ग्राहक मालाकी प्रकाशित पुस्तकोंमेंसे सभी या जितनी चाहें उतनी ले सकते हैं और एक ही पुस्तककी एकसे अधिक प्रतियां भी मंगवा सकते हैं ।

४ । पुस्तक प्रकाशित होतेही पत्रद्वारा सूचना दे दी जायगी । उत्तर न मिलनेपर समझा जायगा कि ग्राहक वी० पी० छुड़ानेको तैयार है ।

५ । वी० पी० वापस लौट आनेपर वी० पी० का खर्चा प्रवेश फीसे काट लिया जायगा । यदि ग्राहक सूचना मिलनेपर फिर पुस्तकें मंगायगा तो उससे वी० पी० वापस लौटानेका खर्चा वसूल किया जावेगा ।

६ । स्थायी ग्राहकोंको अन्य पुस्तकोंपर भी यथोचित कमीशन दी जायगी ।

७ । प्रवेश फी किसी हालतमें भी लौटायी न जा सकेगी ॥

हिन्दी-पुस्तक-मालाका प्रथम पुष्प

आयर्लैंण्डके सत्याग्रही वीर टेरेन्स मक्स्विनी

कृत—

स्वाधीनताके सिद्धान्त

अनुवादक—पं० हेमचन्द्र जोशी बी० ए०

यह पुस्तक महात्मा मैक्स्विनीकी दिव्य पुस्तक Principles of Freedom का हिन्दी अनुवाद है। इस पुस्तककी प्रशंसा सभी सामयिक पत्रोंने की है। कुछ सम्मतियां हम यहां उद्धृत करते हैं—

कलकत्ते का प्रसिद्ध दैनिक पत्र **भारतमित्र** लिखता है—

"पुस्तकारम्भमें महात्मा मैक्स्विनीका चित्र और संक्षिप्त जीवन चरित्र है जो बहुत मनोहर और स्वराज्य संग्रामके सैनिकों के लिये बोध प्रद है। फिर निम्नलिखित विषयोंपर महात्मा के प्रबन्ध हैं ····· इन सब प्रबन्धोंमें स्वाधीनताप्राप्ति तथा तत्सम्बन्धी सभी विषयोंका तात्विक विवेचन किया गया है जिसको पढ़ते हुए अनेक बार यह भ्रम होता है कि हम महात्मा गांधीके ही लेख तो नहीं पढ़ रहे हैं। पर महात्मा मैक्स्विनी और महात्मा गान्धीकी भाषाकी उग्रतामें उतना ही अन्तर है जितना भारतकी अहिंसात्मक राज्यक्रान्तिमें और आयर्लैंण्डकी हिंसात्मक राज्यक्रान्तिमें है। अन्यथा महात्मा मैक्स्विनी भी आत्मिक बलके उपासक हैं। यह जानकर पाठकोंको आश्चर्य होगा कि महात्मा मैक्सिनी अहिंसाके उतने ही बड़े उपासक थे

जितने स्वयं महात्मा गान्धी हैं। पर महात्मा मैक्स्विनीके अहिंसादर्शमें हिंसा करना भी अहिंसाका एक भाग है। जहाँ जहाँ स्वाधीनताका संग्राम होता है वहाँ वहाँ सबके सामने एक प्रकारके प्रश्न उपस्थित होते हैं और इसलिये भारतकी वर्तमान अवस्थामें महात्मा मैक्स्विनीके ये लेख बड़ी दिलचस्पीके साथ पढ़े जायंगे। सत्याग्रह संग्रामके सैनिकोंकी योग्यताके विषयमें महात्मा गान्धीके जो विचार हैं उन्हीं विचारोंका प्रतिबिम्ब हम महात्मा मैक्स्विनीके विचारोंमें भी देखते हैं। इस प्रकार सादृश्यकी अनेक बातें हैं। हमारी यह सूचना है कि स्वराज्यकी चिन्ता करनेवाले लोग इस पुस्तकको एक बार अवश्य पढ़ें।"

जबलपुरका निर्भीक पत्र **कर्मवीर** लिखता है—"अनुवाद होनेपर भी इस पुस्तकके पढ़नेमें मजा आता है। पुस्तकमें स्वाधीनताका उत्कृष्ट चित्र खींचा गया है। प्रारम्भमें चरित्रनायककी जीवनी भी संक्षेपमें दे दी गयी है जिसे पढ़कर पाठक उसके सिद्धान्तोंको कसौटीपर भी कस सकते हैं। पुस्तक संग्रहणीय है।"

ऐसी उत्तम पुस्तकका मूल्य केवल १) पृष्ठसंख्या २०० से अधिक।